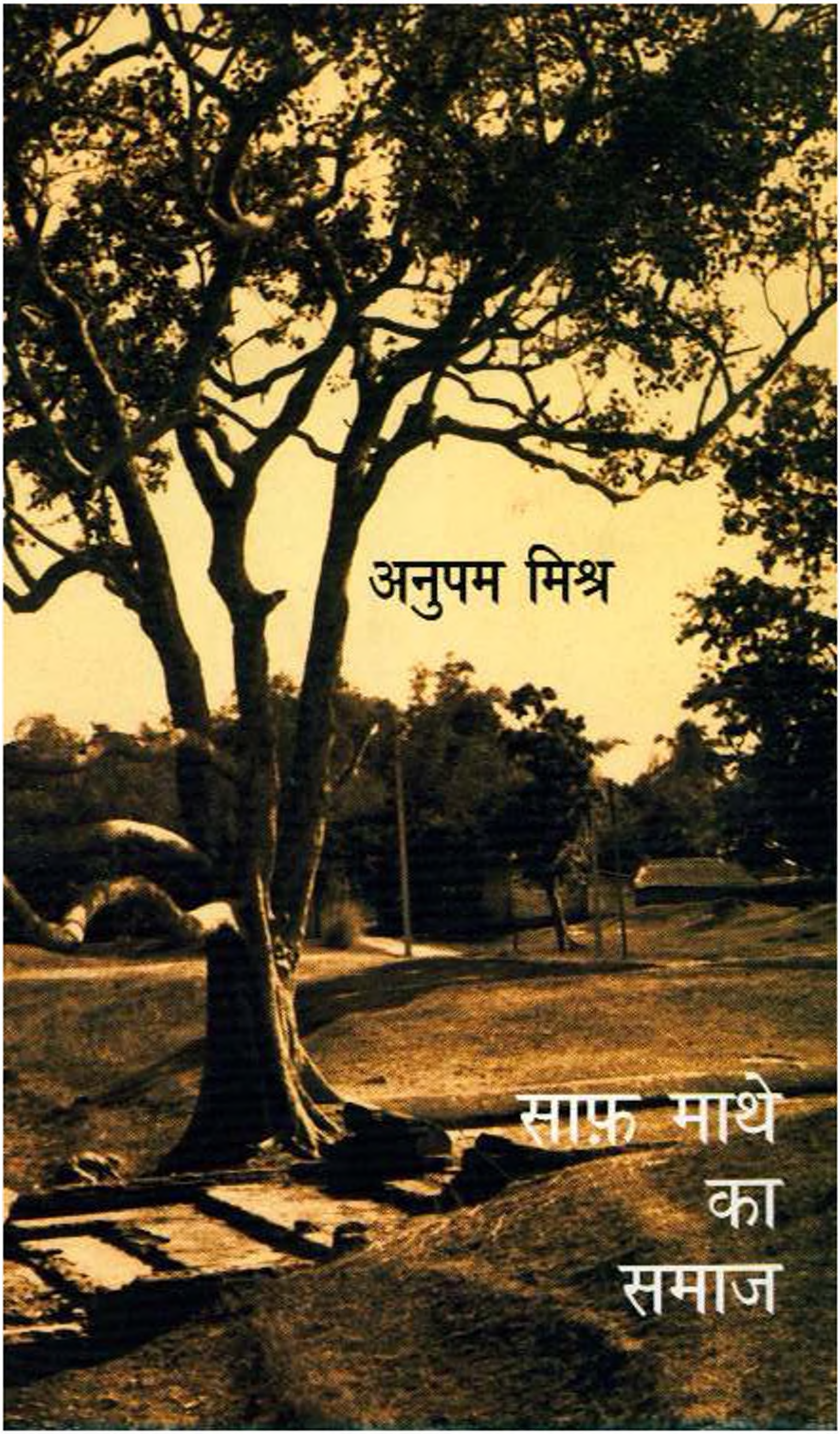
अनुपम मिश्र
साफ़ माथे
का
समाज

पेंगुइन बुक्स

साफ़ माथे का समाज

अनुपम मिश्र का जन्म 5 जून, 1948 को महाराष्ट्र के वर्धा ज़िले में हुआ। एम.ए. करने के तुरंत बाद 1969 से ही गांधी शांति प्रतिष्ठान से जुड़े रहे।

बाद का, सीखने का सारा काम समाज की असाधारण पाठशाला में हुआ। इसी जानकारी को एक सामाजिक कार्यकर्ता की तरह दूसरों के समक्ष रखते रहे। छोटी-बड़ी 17 पुस्तकें लिखीं, जिनमें से अधिकांश अब अनुपलब्ध हैं।

'आज भी खरे हैं तालाब' और 'राजस्थान की रजत बूंदें' की राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ख़ूब चर्चा और प्रशंसा हुई। पर्यावरण के प्रति जागरूकता पैदा करने और जल संरक्षण के क्षेत्र में असाधारण योगदान के लिए वर्ष 1996 का इंदिरा गांधी पर्यावरण पुरस्कार मिला।

किशन कालजयी का जन्म 31 दिसंबर, 1961 को झारखंड के गोड्डा ज़िले के मोतिया गांव में हुआ। शिक्षा एम. ए. (हिंदी) तक हुई।

पत्रकारिता, सामाजिक आंदोलन और संस्कृतिकर्म में लगातार सक्रिय रहे हैं। कई नाटकों का लेखन एवं निर्देशन किया, निर्देशन के लिए कई बार पुरस्कृत हुए। कई डॉक्यूमेंट्री फ़िल्मों का निर्माण किया। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित, अनुवाद और संपादन में सक्रिय। अनियतकालीन पत्रिका 'संवेद' का 1991 से संपादन, इन दिनों भारतीय ज्ञानपीठ के वरिष्ठ प्रकाशन अधिकारी।

साफ़ माथे का समाज

अनुपम मिश्र

संपादक
किशन कालजयी

अनुक्रम

लोक बुद्धि की जीवट यात्रा vii

भाषा और पर्यावरण 1

अकालः अच्छे कामों और विचारों का भी 6

गोचर का प्रसाद बांटता लापोड़िया 9

तैरने वाला समाज डूब रहा है 41

नर्मदा घाटीः सचमुच कुछ घटिया विचार 57

भूकंप की तर्जनी और कुम्हड़बतिया 68

पर्यावरणः खाने का और दिखाने का और 78

बीजों के सौदागर 87

बारानी को भी ये दासी बना देंगे 93

विभागों में भटक कर पुरे तालाब 97

गोपालपुराः न बंधुआ बसे, न पेड़ बचे 103

गौना तालः प्रलय का शिलालेख 112

साध्य, साधन और साधना 119

माटी, जल और ताप की तपस्या 125

सन् 2000 में तीन शून्य भी हो सकते हैं 136

साफ़ माथे का समाज 139

थाली का बैंगन 149
भगदड़ में पड़ी सभ्यता 156
राजरोगियों की ख़तरनाक रज़ामंदी 158
असभ्यता की दुर्गंध में एक सुगंध 163
पर्यावरण का पाठ 166
मन्ना: वे गीतफ़रोश भी थे 239
श्रद्धा-भाव की ज़रूरत 249

लोक बुद्धि की जीवट यात्रा

इस सृष्टि की रचना जल से हुई है और मनुष्य ही नहीं; समूची सृष्टि को निर्मित करने वाले क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर नामक पंचभूतों में एक जल भी है। मानव जाति का इतिहास भी जल से जुड़ा हुआ है। आदमी की आदि प्रजाति अमीबा की उत्पत्ति जल के बिना संभव ही नहीं थी। अधिकांश सभ्यताओं का विकास भी नदियों के किनारे हुआ है। आज भी महत्वपूर्ण नगर किसी न किसी नदी के किनारे ही अवस्थित हैं। गांवों के भी आस-पास छोटी-बड़ी नदी बहती रही है और पहले तालाबों और बग़ीचों से तो गांव घिरा ही रहता था। तब खेती के लिए किसानों को किसी कीटनाशक या रासायनिक खाद का उपयोग करने की कोई ज़रूरत नहीं होती थी। पेड़-पत्तों और घर के कूड़े से बनी जैविक खाद ही ज़मीन की उर्वरता को लगातार बढ़ाती जाती थी। तब कल-कारख़ानों के कचरों ने ज़मीन और आकाश को प्रदूषित नहीं किया था, औद्योगिक विकास के नाम पर जंगल की अंधाधुंध कटाई नहीं हुई थी। हरियाली ज़मीन पर बिछी रहती थी, नदी और तालाब जीवन के गीत गाते थे और पेड़-पौधे संगीत सुनाते थे। दरअसल जल, ज़मीन और जंगल प्रकृति के चेहरे नहीं, प्रकृति की आत्मा के अवयव हैं और इनसे मनुष्य का आत्मिक संबंध सदियों से रहा है। आज की आधुनिकता ने इसी संबंध पर हमला किया है। आधुनिक विकास के असंतुलित ढांचे ने मनुष्य और प्रकृति के पारस्परिक संबंध को जिस तरह से एकतरफ़ा और भोगवादी बना दिया है, सिर्फ़ मनुष्य का नहीं समूचे प्राणियों और वनस्पतियों का जीवन नष्ट हो गया है।

यह दौर ऐसी आधुनिकता का है जिसके मोहक मकड़जाल में मनुष्य लगातार फंसता चला जा रहा है। सोचा गया था कि यह आधुनिकता मनुष्य को अभाव और असुविधा से मुक्ति दिलाएगी और विकास की धारा को जनोन्मुखी बनाएगी। लेकिन बात उल्टी हो गई। एकांगी विकास के वर्चस्व ने सामाजिक ताने-बाने को तहस-नहस कर दिया है। प्रचंड उपभोक्तावाद और भौतिक वैभव के अशिष्ट प्रदर्शन से सामाजिक संरचना जिस तरह से प्रदूषित हुई है, ऐसे में मनुष्यता का दम घुट रहा है। एक अजीब क़िस्म के अनगढ़ अंधेरे में डूबा यह समाज रोशनी और रास्ते के लिए बेचैन है। इस बेचैन समय में अनुपम मिश्र की यह किताब एक 'राहत' की तरह सामने आई है।

यह वह राहत नहीं है जो हर वर्ष लूट-खसोट के साथ प्रखंड स्तर पर बाढ़-पीड़ितों को अनाज, पौलिथीन और दियासलाई मुहैया कराने का नाटक करती है; बल्कि यह अंधेरे में रोशनी देने और भूले-भटके को रास्ता दिखाने जैसी राहत है। सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए यदि यह विकास का मानक है तो 'ससटेनेबल डेवलप्मेंट' का परचम लहराने वाले बुद्धिजीवियों के लिए विनम्र आग्रह है कि वे लोक और परंपरा के महत्व को पहचानें।

अनुपम मिश्र ने बहुत नहीं लिखा लेकिन लगातार लिखने वाले बहुत लेखकों के विपुल लेखन पर उनका थोड़ा लिखा भारी पड़ रहा है। यह बात सिर्फ़ मेरे मन में नहीं है पूरे हिंदी समाज का निर्दल और निर्दोष तबका इस तथ्य पर गौरव करता है और इसके लिए अनुपम भाई के प्रति कृतज्ञ भी है। अपने यहां बार-बार यह बात कही जाती रही है कि पढ़ने योग्य लिखा जाए इससे लाख गुना बेहतर है कि लिखने योग्य किया जाए। दोनों ही कसौटियों पर अनुपम तालाब की तरह खरे हैं। उन्होंने जो भी लिखा वह बहुपठनीय रहा और सामाजिक कार्यकर्ता की हैसियत से वे पर्यावरण संबंधी कार्यों में तल्लीनता से लगे रहे। अपने कामकाज के दौरान उन्हें जब

कुछ कहना ज़रूरी लगा तभी उन्होंने लिखा। अपने लेखन के बारे में अनुपम जी निसंकोच कहते रहे हैं कि उन्होंने कोई मौलिक या अद्वितीय विचार नहीं दिया है, समाज और परंपरा में व्याप्त विचारों की उन्होंने पुनर्प्रस्तुति की है। एक तरह से कहा जा सकता है कि उनका लेखन एक सामाजिक कार्यकर्ता की नज़रों से दिख रही दुनिया की वास्तविक तस्वीर है। इस तस्वीर के लिए कैमरे को कहां रखना है, तस्वीर का फ्रेम क्या होगा, रंग, रोशनी, आकार, प्रकार इन सबों पर शांत और संकोची दिखने वाले अनुपम जी की अद्‌भुत आंतरिक चुस्ती है।

हिंदी के बहुत कम लोग जानते हैं कि अनुपम जी गीतफ़रोश जैसी प्रसिद्ध कविता को रचने वाले कवि भवानीप्रसाद मिश्र के पुत्र हैं। उनके जीवन में कई ऐसे अवसर आए जब वे चमचमाती दुनिया में प्रवेश कर सकते थे, लेकिन उन्होंने सादगी का एक सहज रास्ता चुना। हिंदी पत्रकारिता का एक नया मानदंड स्थापित करने वाले अख़बार 'जनसत्ता' की जब योजना बन रही थी तो रामनाथ गोयनका और प्रभाष जोशी की बहुत इच्छा थी कि अनुपम मिश्र 'जनसत्ता' में आ जाएं, क्योंकि बिहार आंदोलन के दौरान 'इंडियन एक्सप्रेस' से निकलने वाले 'प्रजानीति' में वे काफ़ी सक्रिय थे। 'जनसत्ता' से मित्रता रखते हुए अनुपम ने अपनी सारी सक्रियता गांधी शांति प्रतिष्ठान और पर्यावरण से जुड़ी गतिविधियों को सौंप दी। अपने किए का कभी कोई उल्लेख नहीं, गुमान नहीं। सहजता और सरलता भी ऐसी जो ओढ़ी हुई या हासिल की हुई नहीं, बिल्कुल हृदय से निसृत सहजता। दरअसल अनुपम मिश्र ऐसे लोगों में से हैं जो उन्हीं विचारों को लिखते और बोलते हैं जिन्हें वे जीना जानते हैं और जीना चाहते हैं। उनकी विनम्रता और सहजता को समझने के लिए प्रभाष जोशी की ये पंक्तियां बड़ी सटीक लगती हैं– 'भवानीप्रसाद मिश्र के पुत्र होने और चमचमाती दुनिया छोड़कर गांधी संस्था में काम करने का एहसान भी वह दूसरों पर नहीं करता था। ऐसे रहता, जैसे रहने की क्षमा मांग रहा हो। आपको लजाने

या आत्मदया में नहीं, सहज ही। जैसे उसका होना आप पर अतिक्रमण हो और इसलिए चाहता हो कि आप उसे माफ़ कर दें। जैसे किसी पर उसका कोई अधिकार ही न हो और उसे जो मिला है या मिल रहा है वह देने वाले की कृपा हो। मई बहत्तर में छतरपुर में डाकुओं के समर्पण के बाद लौटने के लिए चंबल घाटी शांति मिशन ने हमें एक जीप दे दी। हम चले तो अनुपम चकित। उसे भरोसा ही न हो कि अपने को एक पूरी जीप मिल सकती है। सच, इस जीप में अपन ही हैं और अपने कहने पर ही यह चलेगी। ऐसे विनम्र सेवक का आप क्या कर लेंगे?'

सामाजिक कार्यकर्ता, पत्रकार और विलक्षण छायाकार अनुपम मिश्र की ओर पहली बार देश और समस्त भारतीय समाज का ध्यान 1983 में आकृष्ट हुआ जब उन्होंने 'देश का पर्यावरण' संपादित किया। यह सिलसिला जारी रहा और 1988 में उन्होंने 'हमारा पर्यावरण' संपादित किया। 1993 में उनकी पुस्तक गांधी शांति प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित 'आज भी खरे हैं तालाब' ने तो हिंदी के इतिहास में अपना एक विशेष स्थान बना लिया। यह एक किंवदंती के रूप में न सिर्फ़ हिंदी में बल्कि अन्य भारतीय भाषाओं में भी व्याप्त हो गई। सिर्फ़ प्रचार और प्रसार की दृष्टि से ही नहीं प्रभाव के संदर्भ में भी यह देश की महत्वपूर्ण किताब हो गई। इस किताब को पढ़कर न जाने कितने कार्यकर्ता तैयार हो गए जो तालाब बनाने के बहाने सामाजिक कार्यों में लग गए। जो समाज तालाब को भूल चुका था, या भूलने लगा था, इस किताब से प्रेरित होकर उसने हज़ारों पुराने तालाबों का जीर्णोद्धार किया और सैकड़ों नए तालाब बनाए। तालाब बनने के सिलसिले में कई जगहों पर समाज का खोया सामुदायिक जीवन फिर से वापस आ गया या बीमार सामुदायिक जीवन में नई जान आ गई। इस तरह यह मानना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 'आज भी खरे हैं तालाब' तालाब की परंपरा, संस्कृति और तकनीक पर महज़ एक किताब नहीं,

बल्कि सामाजिक आंदोलनों के सूत्रधार की भूमिका में भी एक प्रशंसनीय पहल है।

के.के. बिड़ला फाउंडेशन द्वारा राजस्थान की जल संग्रह व्यवस्था पर अध्ययन के लिए उन्हें एक फ़ैलोशिप दी गई। इस अध्ययन पर आधारित उनकी पुस्तक 'राजस्थान की रजत बूंदें' जल संग्रह की पारंपरिक गतिविधियों का अनूठा दस्तावेज़ है। यह एक अद्‌भुत संयोग है कि इस पुस्तक की जितनी चर्चा अपने देश में हुई है उससे कहीं ज़्यादा विदेशों में हो रही है। अफ़ग़ान के कृषि मंत्रालय का एक शिष्टमंडल इस किताब में वर्णित तथ्यों और स्थानों के अवलोकन के लिए आया। फ़्रेंच में अनूदित यह किताब काफ़ी चर्चित और प्रशंसित रही।

'देश का पर्यावरण' और 'हमारा पर्यावरण' अनुपम जी द्वारा संपादित पुस्तकें हैं, जबकि 'आज भी खरे हैं तालाब' और 'राजस्थान की रजत बूंदें' उन्होंने लिखी हैं। इनके अलावा पत्र-पत्रिकाओं में वे छिट-पुट लिखते रहे– कभी अपनी इच्छा से तो कभी संपादक मित्रों के दबाव से। यह 'साफ़ माथे का समाज' पिछले 20-25 वर्षों में विभिन्न अवसरों पर लिखे गए उनके लेखों का एक चयन है। चयन में यथा संभव कोशिश की गई है कि विषय का दोहराव नहीं हो, प्रारंभिक संपादकीय प्रारूप से लेकर आख़िर-आख़िर तक प्रेस में जाने के वक़्त तक 10-12 लेखों को हटाया गया है ताकि कथ्य और विषय के दोहराव को रोका जा सके। फिर भी संभव है, पाठकों को इस पुस्तकों में व्यक्त बातों और विचारों में कहीं दोहराव मिल जाए, वह इसलिए कि लेखक यह मानता है कि कुछ बातें बार-बार कहने के योग्य होती हैं इसलिए बार-बार कही गई हैं। इसी लय में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि कुछ बातें बार-बार पढ़ी जानी चाहिए।

इस पुस्तक में कई लेख ऐसे हैं जो बातचीत के आधार पर किन्हीं और ने लिखे हैं, ज़ाहिर है उनमें अनुपम मिश्र के शब्द और मुहावरे

अनुपस्थित भी हो सकते हैं लेकिन भाव और विचार के संदर्भ में उनकी उपस्थिति एक-एक पंक्ति में व्याप्त है। पानी के सवाल पर काम शुरू करने वाले और 'वृक्ष मित्र पुरस्कार' से सम्मानित अनुपम मिश्र की प्रचलित छवि एक पर्यावरणविद की बन गई है या बना दी गई है। लेकिन सिर्फ़ पर्यावरणविद के रूप में उन्हें देखना उनकी प्रतिभा और दृष्टि को सीमित करके देखना है।

'गोचर का प्रसाद बांटता लापोड़िया' अकाल से थके-हारे गांव की फिर से समृद्ध होने और ज़िंदगी जगमगाने की यात्रा-कथा है। एक लक्ष्मण की पहल पर लापोड़िया गांव की काया पलट हो सकती है तो यह उम्मीद क्यों नहीं की जा सकती कि यदि यही बुद्धि और यही दृष्टिकोण देश का नेतृत्व करे तो भारत का भविष्य सुधर जाएगा। अंततः यह देश गांवों का ही है। दरअसल यह लेख भारतीय समाज के संदर्भ में वास्तविक विकास (सुख, समृद्धि और शांति) के लिए एक उपयुक्त अवधारणा गढ़ता है।

बिहार की बाढ़ पर लिखते हुए जब अनुपम मिश्र कहते हैं कि तैरने वाला समाज डूब रहा है तो यह नहीं लगता कि बाढ़ की भयावह स्थिति पर यह सिर्फ़ एक टिप्पणी है और यह भी नहीं लगता कि बाढ़ की परेशानियों से लेखक परिचय करा रहा है। बल्कि लेखक श्री मिश्र लोक जीवन के उस पारंपरिक हुनर और कौशल का सम्मान करते दिखाई देते हैं जिस भरोसे सदियों से आम जन बाढ़ और सुखाड़ जैसी विपदा के साथ जीते रहे हैं।

बाढ़ पहले भी आती थी, लेकिन इस तरह की विभीषिका अपने साथ नहीं लाती थी। छोटी-मोटी परेशानियों के बदले वह प्राकृतिक बाढ़ खेतों को उपजाऊ बना जाती थी। लेकिन अब जो मानव निर्मित बाढ़ आती है, वह एक तरफ़ जनता को बेघर बनाकर कंगाल करती है तो दूसरी ओर

'राहत' के नाम पर भ्रष्ट अधिकारियों और राजनीतिज्ञों को मालामाल बना जाती है। इसलिए कहा जाता है कि जिस वर्ष बाढ़ नहीं आती, राजनीति में सूखा रहता है।

वार्षिक बाढ़ की तमाम तबाहियों और प्रशासनिक उपेक्षाओं को झेलकर भी आदमी यदि अपने अस्तित्व के साथ आज जीवित है तो उसके उस जीवट और जिजीविषा का नमन करना होगा जो संकट के क्षणों में उसके साथ रहे। जीवट और जिजीविषा के इस जीवन का मर्म उस लोक विज्ञान में निहित है जो किसी स्कूल-कॉलेज की उपज नहीं बल्कि सैकड़ों, हज़ारों वर्षों के संघर्षों, अनुभवों और पारंपरिक रहन-सहन से निथर-निथर कर सामने आया है। अनुपम मिश्र ने अपने इन लेखों द्वारा लोक जीवन में व्याप्त इसी ज्ञान और विज्ञान को 'अगोरा' है।

योजनाकारों और देश के रहनुमाओं को इस लोक-विज्ञान और किसानी समझ पर थोड़ा भी भरोसा होता तो आधुनिक विकास का ढांचा आज इतना यांत्रिक, प्रकृति विरोधी और निर्मम नहीं होता। अनुपम मिश्र का लेखन यदि इस बात की प्रेरणा है कि लोक-विज्ञान की आत्मा में ही आधुनिक विज्ञान की देह को आकार दिया जाए तो इस बात की चेतावनी भी है कि प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित किए बिना हासिल की गई भौतिक विकास की तमाम उपलब्धियां प्रलय का ही निमंत्रण हैं।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की पत्रिका 'बहुवचन' में अनुपम मिश्र ने जो एक छोटा सा लेख 'भाषा और पर्यावरण' पर लिखा है (इस पुस्तक का पहला लेख) वह कोई असाधारण भाषाविद ही लिख सकता है।

कहते हैं कि जिसका जैसा व्यक्तित्व होता है वह उसके कामकाज में व्यक्त हो जाता है। अनुपम मिश्र के व्यक्तित्व की सहजता और सरलता उनके कामकाज में तो व्यक्त हुई ही है उनकी भाषा में भी अभिव्यक्त

हुई है। इन लेखों को पढ़कर यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि व्यक्तित्व की तरलता भाषा में कैसे बहती है। अनुपम जी की भाषा ने उनके व्यक्तित्व को सरल-तरल बनाया है या उनके व्यक्तित्व ने उनकी भाषा को भरा है, यह तय करना कठिन है। लेकिन यह तथ्य है कि अनुपम मिश्र ने कमरे में बैठकर शब्दकोश के सहारे अपना लेखन नहीं किया। राजस्थान के बंजर इलाक़ों में पानी और हरियाली के लिए जूझते ग्रामीणों की जुबान को अपनी भाषा में आने दिया है। मरुभूमि के इलाक़े की चर्चा करते हुए अनुपम मिश्र कहते हैं– 'बादल यहां सबसे कम आते हैं, पर बादलों के नाम यहां सबसे ज़्यादा निकलें तो कोई अचरज नहीं। खड़ी बोली और बोली में ब और व के अंतर से पुल्लिंग, स्त्रीलिंग के अंतर से बादल का वादल और वादली, बादलो, बादली है, संस्कृत से बरसे जलहर, जीमूत, जलधर, जलवाह, जलधरण, जलद, घटा, क्षर (जल्दी नष्ट हो जाते हैं), सारंग, व्योम, व्योमचर, मेघ, मेघाडंबर, मेघमाला, मुदिर, महीमंडल जैसे नाम भी हैं। पर बोली में तो बादल के नामों की जैसे घटा छा जाती है: भरणनद, पायोद, धरमंडल, दादर, डंबर, दलवादल, घन, घणमंड, जलजाल, कालीकांढल, कालाहण, कारायण, कंद, हब्र, मैंमट, मेहाजल, मेघाण, महाधन, रामइयो और सेहर। बादल कम पड़ जाएं, इतने नाम हैं यहां बादलों के। बड़ी सावधानी से बनाई इस सूची में कोई भी ग्वाला चाहे जब दो-चार नाम और जोड़ देता है। भाषा की और उसके साथ-साथ इस समाज की वर्षा-विषयक अनुभव संपन्नता इन चालीस, चवालीस नामों में समाप्त नहीं हो जाती। वह इन बादलों का, उनके आकार, प्रकार, चाल-ढाल, स्वभाव के आधार पर भी वर्गीकरण करती है: सिखर हैं बड़े बादलों का नाम तो छीतरी हैं छोटे-छोटे लहरदार बादल। छितराए हुए बादलों के झुंड में कुछ अलग-थलग पड़ गया छोटा सा बादल भी उपेक्षा का पात्र नहीं है। उसका भी एक नाम है– चूंखो। दूर वर्षा के वे बादल जो ठंडी हवा के साथ उड़कर आए हैं, उन्हें कोलायण कहा गया

है। काले बादलों की घटा के आगे-आगे श्वेत पताका सी उठाए सफ़ेद बादल कोरण या कागोलड़ हैं। और इस श्वेत पताका के बिना ही चली आई काली घटा कांढल या कलायण है।'

जल, ज़मीन और जंगल के परिवेश का सिर्फ़ तथ्य नहीं बल्कि उस परिवेश में जन्में, रचे-बसे शब्दों को अनुपम अपने अध्ययन और लेखन के द्वारा हाशिये से मुख्य धारा में लाए हैं। फ़णीश्वर नाथ रेणु ने जिस तरह से 'मैला आंचल' में बिहार की लोकभाषा अंगिका का उपयोग किया है, मनोहर श्याम जोशी ने 'कसप' में कुमांउनी हिंदी का प्रयोग किया है उसी तरह से अनुपम मिश्र के लेखन में राजस्थान का लोक जीवन प्रतिबिंबित हुआ है। इस बात को दूसरे तरीक़े से कहा जा सकता है कि कई अर्थों में रूढ़ और यांत्रिक हो रही साहित्येत्तर हिंदी को अनुपम जी ने नए इलाक़े में पहुंचाकर इसे जन-जीवन से जोड़ा है और हिंदी को एक नई समृद्धि दी है। हिंदी के प्रति उनके इस योगदान का हिंदी समाज ने कृतज्ञतापूर्वक सत्कार किया है तभी तो उनकी पुस्तक 'आज भी खरे हैं तालाब' की एक लाख प्रतियां छपी हैं। हिंदी के इतिहास में किसी भी ग़ैर-कथात्मक पुस्तक के लिए यह प्रसार आज तक संभव नहीं हुआ।

मुझे विश्वास है कि 'आज भी खरे हैं तालाब' और 'राजस्थान की रजत बूंदें' की तरह यह पुस्तक भी लोकप्रिय होगी। मैं नीता गुप्ता और पेंगुइन बुक्स का आभारी हूं कि उन्होंने मुझे यह महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारी सौंपी। मैं अपनी ज़िम्मेदारी में कितना सफल हुआ यह तो पाठक बताएंगे, लेकिन मैं इतना ज़रूर कहना चाहूंगा कि संपादन के दौरान भाषा, भाव और विचार की एक ऐसी विलक्षण दुनिया में मेरा प्रवेश हुआ जिससे मैं निकलना नहीं चाहता।

दुर्लभ लेखों को जुटाने, पांडुलिपि तैयार करने में गांधी शांति प्रतिष्ठान

की अमृता शर्मा और सुमन भंडारी के सहयोग के लिए मैं उनका आभारी हूं। अनुपम जी और उनकी जीवन संगिनी मंजु जी ने भी इस पुस्तक को तैयार करने में आत्मीय सान्निध्य दिया है, उनकी इस सत्संगति का मैं हार्दिक नमन करता हूं।

13 जून, 2006 किशन कालजयी

भाषा और पर्यावरण

किसी समाज का पर्यावरण पहले बिगड़ना शुरू होता है या उसकी भाषा-हम इसे समझ कर संभल सकने के दौर से अभी तो आगे बढ़ गए हैं। हम 'विकसित' हो गए हैं।

भाषा यानी केवल जीभ नहीं। भाषा यानी मन और माथा भी। एक का नहीं, एक बड़े समुदाय का मन और माथा जो अपने आसपास के और दूर के भी संसार को देखने-परखने-बरतने का संस्कार अपने में सहज संजो लेता है। ये संस्कार बहुत कुछ उस समाज की मिट्टी, पानी, हवा में अंकुरित होते हैं, पलते-बढ़ते हैं और यदि उनमें से कुछ मुरझाते भी हैं तो उनकी सूखी पत्तियां वहीं गिरती हैं, उसी मिट्टी में खाद बनाती हैं। इस खाद यानी असफलता की ठोकरों के अनुभव से भी समाज नया कुछ सीखता है।

लेकिन कभी-कभी समाज के कुछ लोगों का माथा थोड़ा बदलने लगता है। यह माथा फिर अपनी भाषा भी बदलता है। यह सब इतने चुपचाप होता है कि समाज के सजग माने गए लोगों के भी कान खड़े नहीं हो पाते। इसका विश्लेषण, इसकी आलोचना तो दूर, इसे कोई क्लर्क या मुंशी की तरह भी दर्ज नहीं कर पाता।

इस बदले हुए माथे के कारण हिंदी भाषा में 50-60 बरस में नए शब्दों की एक पूरी बारात आई है। बारातिये एक-से-एक हैं पर पहले तो दूल्हे राजा को ही देखें। दूल्हा है विकास नामक शब्द। ठीक इतिहास तो नहीं मालूम कि यह शब्द हिंदी में कब पहली बार आज के अर्थ में शामिल हुआ होगा। पर जितना अनर्थ इस शब्द ने पर्यावरण के साथ किया है, उतना शायद ही किसी और शब्द ने किया हो। विकास शब्द ने माथा बदला और फिर उसने समाज के अनगिनत अंगों की थिरकन को थामा। अंग्रेज़ों के आने से ठीक पहले तक समाज के जिन अंगों के बाक़ायदा राज थे, वे लोग इस भिन्न विकास की 'अवधारणा' के कारण आदिवासी कहलाने लगे। नए माथे ने देश के विकास का जो नया नक़्शा बनाया, उसमें ऐसे ज़्यादातर इलाक़े 'पिछड़े' शब्द के रंग से ऐसे रंगे गए, जो कई पंचवर्षीय योजनाओं के झाड़ू-पोंछे से भी हल्के नहीं पड़ पा रहे। अब हम यह भूल ही चुके हैं कि ऐसे ही 'पिछड़े' इलाक़ों की संपन्नता से, वनों से, खनिजों से, लौह-अयस्क से देश के अगुआ मान लिए गए हिस्से कुछ टिके से दिखते हैं।

कुछ मुट्ठी भर लोग पूरे देश की देह का, उसके हर अंग का विकास करने में जुट गए हैं। ग्राम विकास तो ठीक, बाल विकास, महिला विकास सब कुछ लाईन में है।

अपने को, अपने समाज को समझे बिना उसके विकास की इस विचित्र उतावली में गज़ब की सर्वसम्मति है। सभी राजनैतिक दल, सभी सरकारें, सभी सामाजिक संस्थाएं, चाहे वे धार्मिक हों, मिशन वाली हों, या वर्ग संघर्ष वाली—गर्व से विकास के काम में लगी हैं, विकास की इस नई अमीर भाषा ने एक नई रेखा भी खींची है—ग़रीबी की रेखा। लेकिन इस रेखा को खींचने वाले संपन्न लोगों की ग़रीबी तो देखिए

कि उनकी तमाम कोशिशें रेखा के नीचे रहने वालों की संख्या में कमी लाने के बदले उसे लगातार बढ़ाती जा रही हैं।

पर्यावरण की भाषा इस सामाजिक-राजनैतिक भाषा से रत्ती-भर अलग नहीं है। वह हिंदी भी है यह कहते हुए डर लगता है। बहुत हुआ तो आज के पर्यावरण की ज़्यादातर भाषा देवनागरी कही जा सकती है। लिपि के कारण राजधानी में पर्यावरण मंत्रालय से लेकर हिंदी राज्यों के क़स्बों, गांवों तक के लिए बनी पर्यावरण संस्थाओं की भाषा कभी पढ़ कर तो देखें। ऐसा पूरा साहित्य, लेखन, रिपोर्ट सब कुछ एक अटपटी हिंदी से पटा पड़ा है।

कचरा-शब्दों का और उनसे बनी विचित्र योजनाओं का ढेर लगा है। इस ढेर को *'पुनर्चक्रित'* भी नहीं किया जा सकता। दो-चार नमूने देखें। सन् 80 से आठ-दस बरस तक पूरे देश में *सामाजिक वानिकी* नामक योजना चली। किसी ने भी नहीं पूछा कि पहले यह तो बता दो कि असामाजिक वानिकी क्या है? यदि इस शब्द का, योजना का संबंध समाज के वन से है, गांव के वन से है तो हर राज्य के गांवों में ऐसे विशिष्ट ग्रामवन, पंचायती वनों के लिए एक भरा-पूरा शब्द-भंडार, विचार और व्यवहार का संगठन काफ़ी समय तक रहा है। कहीं उस पर थोड़ी धूल चढ़ गई थी तो कहीं वह मुरझा गया था, पर वह मरा तो नहीं था। उस दौर में कोई संस्था आगे नहीं आई इन बातों को लेकर। मरुप्रदेश में आज भी ओरण (अरण्य से बना शब्द) हैं। ये गांवों के वन, मंदिर देवी के नाम पर छोड़े जाते हैं। कहीं-कहीं तो मीलों फैले हैं ऐसे जंगल। इनके विस्तार की, संख्या की कोई व्यवस्थित जानकारी नहीं है। वन विभाग कल्पना भी नहीं कर सकता कि लोग ओरणों से एक तिनका भी नहीं उठाते।

अकाल के समय में ही इनको *खोला* जाता है। वैसे ये खुले ही रहते हैं, न कटीले तारों का घेरा है, न दीवारबंदी ही। श्रद्धा, विश्वास का घेरा

इन वनों की रखवाली करता रहा है। हज़ार-बारह सौ बरस पुराने ओरण भी यहां मिल जाएंगे। जिसे कहते हैं *बच्चे-बच्चे की ज़बान पर* ओरण शब्द रहा है पर राजस्थान में अभी कुछ ही बरस पहले तक सामाजिक संस्थाएं, श्रेष्ठ वन विशेषज्ञ या तो इस परंपरा से अपरिचित थे या अगर जानते थे तो कुछ कुतुहल भरे, शोध वाले अंदाज़ में। ममत्व, यह हमारी परंपरा है, ऐसा भाव नहीं था उस जानकारी में।

ऐसी हिंदी की सूची लंबी है, शर्मनाक है। एक योजना देश की बंजर भूमि के विकास की आई थी। उसकी सारी भाषा बंजर ही थी। सरकार ने कोई 300 करोड़ रुपया लगाया होगा पर बंजर-की-बंजर रही भूमि। फिर योजना ही समेट ली गई। और अब सबसे ताज़ी योजना है जलागम क्षेत्र विकास की। यह अंग्रेज़ी के वॉटरशेड डेवलपमेंट का हिंदी रूप है। इससे जिनको लाभ मिलेगा, वे *लाभार्थी* कहलाते हैं, कहीं *हितग्राही* भी हैं। 'यूज़र्स ग्रुप' का सीधा अनुवाद *उपयोगकर्ता समूह* भी यहां है। तो एक तरफ़ साधन संपन्न योजनाएं हैं, लेकिन समाज से कटी हुई। *जन भागीदारी* का दावा करती हैं पर जन इनसे भागते नज़र आते हैं तो दूसरी तरफ़ मिट्टी और पानी के खेल को कुछ हज़ार बरस से समझने वाला समाज है। उसने इस खेल में शामिल होने के लिए कुछ आनंददायी नियम, परंपराएं, संस्थाएं बनाई थीं। किसी अपरिचित शब्दावली के बदले एक बिल्कुल आत्मीय ढांचा खड़ा किया था। चेरापूंजी, जहां पानी कुछ गज़ भर गिरता है, वहां से लेकर जैसलमेर तक जहां कुल पांच-आठ इंच वर्षा हो जाए तो भी आनंद बरस गया—ऐसा वातावरण बनाया। हिमपात से लेकर रेतीली आंधी में पानी का काम, तालाबों का काम करने वाले गजधरों का कितना बड़ा संगठन खड़ा किया गया होगा। कोई चार-पांच लाख गांवों में काम करने वाले उस संगठन का आकार इतना बड़ा था कि वह सचमुच निराकर हो गया। आज पानी का, पर्यावरण का काम करने वाली बड़ी-

से-बड़ी संस्थाएं उस संगठन की कल्पना तो करके देखें। लेकिन वॉटरशैड, *जलागम क्षेत्र विकास* का काम कर रही संस्थाएं, सरकारें, उस निराकार संगठन को देख ही नहीं पाती। उस निराकार से टकराती हैं, गिर भी पड़ती हैं, पर उसे देख, पहचान नहीं पातीं। उस संगठन के लिए तालाब एक वॉटर बॉडी नहीं था। वह उसकी रतन तलाई थी। झुमरी तलैया थी, जिसकी लहरों में वह अपने पुरखों की छवि देखता था। लेकिन आज की भाषा जलागम क्षेत्र विकास को मत्स्य पालन से होने वाली आमदनी में बदलती है।

इसी तरह अब नदियां यदि घर में बिजली का बल्ब न जला पाएं तो माना जाता है कि वे 'व्यर्थ में पानी समुद्र में बहा रही हैं।' बिजली जरूर बने, पर समुद्र में पानी बहाना भी नदी का एक बड़ा काम है। इसे हमारी नई भाषा भूल रही है। जब समुद्रतटीय क्षेत्रों में भूजल बड़े पैमाने पर खारा होने लगेगा—तब हमें नदी की इस भूमिका का महत्त्व पता चलेगा।

लेकिन आज तो हमारी भाषा ही खारी हो चली है। जिन सरल, सजल शब्दों की धाराओं से वह मीठी बनती थी, उन धाराओं को बिल्कुल नीरस, बनावटी, *पर्यावरणीय, पारिस्थितिक* जैसे शब्दों से बांधा जा रहा है। अपनी भाषा, अपने ही आंगन में विस्थापित हो रही है, वह अपने ही आंगन में पराई बन रही है।

अकाल: अच्छे कामों और विचारों का भी

आग लगने पर कुआं खोदना पुरानी कहावत है।

अकाल की आग लगी। सरकार और समाज ने भी कुआं खोदना शुरू किया। कहावत में तो कुआं खोदने पर शायद पानी भी निकलता है पर इस बार अकाल में कुआं खोदने पर पानी नहीं मिला। टैंकरों से, रेलों से और तो और गुजरात में पानी के जहाज़ से पानी पहुंचाया गया। सिर्फ़ हवाई जहाज़ रह गया।

जिस 21वीं सदी में भारत को ले जाने के लिए हमारे सभी दलों के सभी राजनेता पिछले 20 बरस से बहुत आतुर दिख रहे थे उस 21वीं सदी का यह पहला अकाल है। और जिस सूचना की क्रांति का इतना हो हल्ला हो रहा था, इस क्रांति के महान दूतों को, महान सपूतों को बिना सूचना दिए देश के आधे हिस्से में अकाल 'चुपचाप' उतर आया है।

पर अकाल कभी चुपचाप नहीं आता। वह बिना तिथि बताए आने वाला अतिथि नहीं है। दिसंबर के अंत में जब मानसून ने अपने को समेटा था तब बहुत से हिस्से में उसने यह जानकारी, यह सूचना भी बरसा दी थी कि कहां-कहां औसत से कम वर्षा हुई है। पर कुछ अपवाद छोड़ कर न तो धरती के बेटों ने, किसानों ने और न कलेक्टरों ने इस सूचना को बटोर कर रखा। सब जगह गांवों में, खेतों में, शहरों में पीने का पानी,

सिंचाई का पानी उसी ढंग से उलीचा जाता रहा। नतीजा यह हुआ कि छह सात राज्यों में जल स्तर लगातार नीचे गिरता गया। वह इतना नीचे गिर गया कि फिर बिजली के भी हाथ नहीं लग सका।

हर तरह की अनीति के इस दौर में सरकार का ध्यान जलनीति बनाने की तरफ़ भी गया है। इस नई जलनीति का एक प्रारूप अकाल से पहले भी बन चुका है। जिन टेबिलों पर जलनीति बनी है, उन्हीं टेबिलों से देश की सारी नदियों को एक दूसरे से जोड़ देने की सबसे ख़र्चीली और शायद सबसे भयानक, अव्यावहारिक योजना की भी बात लगातार आ रही है। ऐसी चर्चाओं को, वार्ताओं को अकाल भी असामयिक, असामाजिक नहीं बना पाया है। ज़िम्मेदार लोग, मंत्रीगण ऐसी ही गप्पों में व्यस्त रहें तो क्या कहा जा सकता है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कभी भी अकाल अकेले नहीं आता। अच्छे विचारों और अच्छे कामों का अभाव पहले आ जाता है। यहां विचार और काम दोनों में कोई अंतर नहीं है। यह आज की नई शब्दावली से अलग है। इसमें 'एक्शन', 'फ़ील्ड वर्क', 'ग्रासरूट' का काम कुछ ज़्यादा महत्व और वज़न लिए दिखता है और सोचना समझना एक घटिया दर्जे का काम माना जाता है। पर इसके विपरीत अच्छे कामों से अच्छे विचार निकलते हैं और अच्छे विचारों से अच्छे काम। इन दोनों में से कोई भी 'टर्मिनेटर सीड' नहीं होता।

इस अकाल के बीच भी अच्छे काम और अच्छे विचार का एक सुंदर छोटा सा उदाहरण राजस्थान के अलवर क्षेत्र का है जहां तरुण भारत संघ पिछले बीस बरस से काम कर रहा है। वहां पहले अच्छा विचार आया तालाबों का, हर नदी, नाले को छोटे-छोटे बांधों से बांधने का। इस तरह वहां और आसपास के कुछ और ज़िलों के कोई 600 गांवों ने बरसों तक वर्षा की एक-एक बूंद को सहेज लेने का काम चुपचाप किया। इन

तालाबों, बांधों ने वहां सूखी पड़ी पांच नदियों को 'सदानीरा' का दर्जा वापस दिलाया।

अच्छे विचारों से अच्छा काम हुआ और फिर आई चुनौती भरे अकाल की पहली सूचना। नदियों में, तालाबों में, कुओं में वहां तब भी पानी लबालब भरा था। फिर भी इस क्षेत्र के लोगों ने, किसानों ने आज से सात–आठ माह पहले यह निर्णय किया कि पानी कम गिरा है इसलिए ऐसी फ़सलें नहीं बोनी चाहिए जिनकी प्यास ज़्यादा होती है। तो कम पानी लेने वाली फ़सलें लगाई गईं। इसमें उन्हें कुछ आर्थिक नुक़सान उठाना पड़ा पर आज यह क्षेत्र अकाल के बीच में एक बड़े हरे द्वीप की तरह खड़ा है। यहां सरकार को न तो टैंकरों से पानी ढोना पड़ रहा है न अकाल राहत का पैसा बांटना पड़ा है। लोग, गांव किसी के आगे हाथ नहीं पसार रहे हैं। उनका माथा ऊंचा है। पानी के उम्दा काम ने उनके स्वाभिमान की भी रक्षा की है।

अलवर में नदियां एक दूसरे से जोड़ी नहीं गई हैं। यहां लोग, गांव, नदियों से, अपने तालाबों से जुड़े हैं। यहां पैसा नहीं बहाया गया है, पसीना बहाया है, लोगों ने और अच्छे काम और अच्छे विचारों ने अकाल को एक दर्शक की तरह पाल के किनारे खड़ा कर दिया है।

गोचर का प्रसाद बांटता लापोड़िया

सन् 2004: जयपुर ज़िले के एक छोटे से गांव लापोड़िया के लिए इस तारीख़, इस सन् का मतलब है 4 और 2 यानी 6 साल का अकाल। आसपास के बहुत सारे गांव इस लंबे अकाल में टूट चुके हैं, लेकिन लापोड़िया आज भी अपना सिर, माथा उठाए मज़बूती से खड़ा हुआ है। लापोड़िया का माथा घमंड के बदले विनम्र दिखता है। उसने 6 साल के अकाल से लड़ने के बदले उसके साथ जीने का तरीक़ा खोजने का प्रयत्न किया है। इस लंबी यात्रा ने लापोड़िया गांव को लापोड़िया की ज़मीन में छिपी जड़ों तक पहुंचाया है। इन जड़ों ने ऊपर के अकाल को भूलकर ज़मीन के भीतर छिपे पानी को पहचानने का मेहनती काम किया है और इस मेहनत ने आज 6 साल के अकाल के बाद भी लापोड़िया को अपने पसीने से सींच कर हरा-भरा बनाया है।

कोई भी समाज शून्य में जीवित नहीं रह सकता। उसे अपने लोगों, अपने पशुओं, अपनी ज़मीन, अपने पेड़ पौधों, अपने कुएं, अपने तालाबों, अपने खेतों के लिए कोई-न-कोई ऐसी व्यवस्था बनानी पड़ती है, जो समयसिद्ध और स्वयंसिद्ध हो। काल के किसी खंड विशेष में समाज के सभी सदस्यों के साथ मिल-जुलकर जो व्यवस्था बनती है, उसे फिर

सभी सदस्य मिल-जुलकर पाल-पोसकर बड़ा करते हैं और मज़बूत बनाते हैं। अपने ऊपर ख़ुद लगाया हुआ यह अनुशासन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपा जाता है। एक पीढ़ी अपनी उम्र पूरी करे, उससे पहले वैसी ही परिपक्व पीढ़ी फिर सामने आ जाती है, इस धरोहर की रखवाली करने— तब समाज का जीवन बिना रुके, अबाध गति से चलता रहता है।

पिछले दो सौ वर्षों की उथल-पुथल ने समाज को चलाने वाले इन नियमों को, अनुशासन को काफ़ी हद तक तोड़ा था। समाज को जो चीज़ें टिकाती थीं, संचालित करती थीं, उनकी प्रतिष्ठा को इस दौर ने नष्ट किया। पुरानी व्यवस्थाएं टूटीं, लेकिन इनके बदले कोई नई कारगर व्यवस्थाएं उनकी जगह नहीं ले पाईं। लापोड़िया कोई अनोखा गांव नहीं था। इसीलिए वह भी इस उथल-पुथल के दौर में, इस आंधी के सामने अपने पैर जमाकर खड़ा नहीं रह सका था। अन्य दूसरे गांव की तरह वह भी साधनों की ग़रीबी, लाचारी के आगे माथा झुका चुका था।

लेकिन आज लापोड़िया का माथा फिर ऊंचा हुआ है। अपनी जड़ों को पहचानने, उनको तलाशने की यह यात्रा बहुत लंबी रही है। लेकिन प्रकृति में कोई भी काम बिना धीरज के फल नहीं देता है। बहुत पहले लापोड़िया गांव टूट चुका था, उसके खेत उजड़ गए थे, उसका गोचर सूख गया था। गोचर पर यहां-वहां क़ब्ज़े हो चले थे और उसके दो पुराने तालाब भी पाल टूटने के कारण नष्ट हो गए थे। लापोड़िया के लोगों ने इस बुरे दौर में गांव से 80 किलोमीटर दूर जयपुर जैसे शहर में धीरे-धीरे पलायन कर अपने को बचाने का प्रयत्न किया था। कभी जो परिवार इस पूरे गांव की व्यवस्था संभालता था, इस बुरे समय में उसके सबसे अच्छे सदस्य भी लापोड़िया छोड़कर कहीं और नौकरी करने चले गए थे। इन्हीं

में एक थे श्री लक्ष्मण सिंह। गांव के ठिकानेदार, ठाकुर परिवार में जन्मे लक्ष्मण सिंह तब भी आदर के साथ 'बनाजी' कहलाते थे। उजड़े गांव के 'बनाजी' भी उखड़कर यहां से दूर चले गए थे।

लेकिन लापोड़िया गांव को 'बनाजी' से कोई बड़ा काम लेना था। इसीलिए बनाजी सन् 1988 में इसी प्रदेश के अलवर ज़िले में काम प्रारंभ कर रही संस्था तरुण भारत संघ में जा पहुंचे। यहां आने से पहले वे थोड़े समय के लिए भारत सरकार के खेल और युवा मंत्रालय द्वारा चलाए जा रहे नेहरू युवा केंद्र के कामों से भी जुड़े रहे थे। उस माध्यम से अपने गांव में शायद बिना ज़्यादा कुछ सोचे उन्होंने गांव के युवकों को संगठित कर 'ग्राम विकास नवयुवक मंडल' की स्थापना भी कर दी थी। ऐसे नवयुवक मंडलों की कोई कमी नहीं थी और उनसे होने वाला काम भी कुछ नया नहीं कर पाया था। फिर भी सन् 1984 से पहले के दौर में लक्ष्मण जी ने युवकों को संगठित कर श्रमदान के माध्यम से लापोड़िया के अलावा आसपास के 10 गांव में कुछ काम किए थे और कभी स्कूल न जा सकने वाले बच्चों के लिए एक स्कूल भी चलाया था।

तरुण भारत संघ में लक्ष्मण सिंह ने राजेंद्र सिंह जी के साथ काम करते हुए अकाल से उजड़े गांव में पानी का छोर पकड़कर जीवन की खुशी लाने का रहस्य जानना शुरू किया। लेकिन फिर उनको लगा कि इस रहस्य की बाक़ी परतें खोलने का प्रयोग उन्हें अपने उजड़े गांव में ही लौटकर करना चाहिए। लापोड़िया के 'बनाजी' यानी लक्ष्मण सिंह वापस लापोड़िया लौटे। उनके पीछे धीरे-धीरे लापोड़िया का पुराना वैभव भी लौटने लगा--वह वैभव जो यहां की कुछ पीढ़ियों की तरह बाहर पलायन कर गया था।

गांव छोड़ने से पहले लक्ष्मण सिंह जी ने गांव के युवकों के लिए खेलकूद के माध्यम से जो साधारण संगठन बनाया था, उसी संगठन को

फिर से आधार बनाकर उन्होंने ग्राम सेवा और ग्राम विकास के पिछले छूटे हुए कामों को उठाना शुरू किया। 1984 में भी ऐसे कुछ काम शुरू कर के ही वे गांव से बाहर गए थे। इन कामों को करने के लिए कोई पैसा या बजट नहीं था। सार्वजनिक काम की कोई विशेष समझ भी तब नहीं रही होगी। जो काम लोगों ने तब करने बंद कर दिए थे, उन्हीं को धीरे-धीरे फिर से शुरू करने का वातावरण बनाना था। इसमें गांव के पशुओं की सेवा के लिए पीने का पानी जुटाना, खेती करना भी शामिल था। कभी वे गांव के उपेक्षित चौक से सफ़ाई शुरू करते, तो कभी पूरे दिन गांव के इस कोने से उस कोने तक बगरा हुआ गोबर उठाते और फिर उसे रात को खेतों में डालते, कचरे को खाद में बदलते थे। इस काम में उनके मित्र श्री रामअवतार कुमावत भी साथ थे। ये दोनों युवक रोज़ गांव के फूट चुके बड़े तालाब को देखते, लेकिन इसे ठीक कैसे करना है, यह उनकी समझ और क्षमता से बाहर की बात लगती।

लेकिन फिर 1982 में एक दिन अचानक इन दोनों ने अपने कुदाल फावड़े उठाए और लग गए बड़े तालाब को ठीक करने। कितने बरस लगते उसे ठीक करने में, यह उन्हें नहीं मालूम था। लोगों ने उन्हें रोका और समझाने की कोशिश की कि इस तरीक़े से कुछ होने नहीं वाला। लेकिन तभी गांव के प्रतिष्ठित पुजारी स्वामी सियाराम जी भी धरती की इस पूजा में शामिल हुए। फिर श्री श्योकरण बैरवा भी साथ हो गए। चारों लोग मिलकर दिन भर मिट्टी खोदते और एक-दो पीढ़ी से टूटे पड़े तालाब की पाल पर एक-एक टोकरी मिट्टी डालकर धीरे-धीरे पाल ऊपर उठाने लगे। फिर कुछ दिन बाद इनकी मेहनत और धीरज देखकर लापोड़िया के 15-20 और लोग भी साथ हो गए। एक से दो और अब दो से बीस लोगों के हाथ लगे तो पहली बार इन सबने अपना दिमाग़

भी लगाया। एक बैठक हुई और इसमें तय किया गया कि यह गांव का काम है, तो पूरे गांव को बुलाना चाहिए।

गांव के घरों को ज़िम्मेदारी बांटी गई। सब मिलकर सबका काम करें-ऐसी कड़ी जो टूट गई थी, अब फिर से जुड़ गई थी। गर्मी के दो महीनों में सबने मिलकर बड़े तालाब की टूटी पाल को सुधारा। लेकिन प्रकृति शायद अभी लापोड़िया की परीक्षा लेना चाहती थी।

पहली बरसात में ही तालाब फिर टूट गया। लेकिन लापोड़िया में वर्षों बाद उभर रहे संगठन ने धीरज नहीं खोया। लाउडस्पीकर से आवाज़ देकर पूरे गांव को इकट्ठा किया और मिट्टी से भरी बोरियां डालकर टूटी हुई पाल को किसी तरह संभाल लिया। आने वाले वर्षों में तरुण भारत संघ ने इस बड़े तालाब को ठीक करने में मदद दी। और तब दस वर्ष की तपस्या के बाद लापोड़िया को बड़े तालाब का फिर से वरदान मिला। तालाब में इतना पानी रुका कि उसके नीचे के खेतों से धीरे-धीरे बहुत से परिवारों को सुधरती खेती से कुछ कहने लायक़ लाभ भी मिलने लगा। उस समय गांव के 100 बीघा, 100 बीगोड़ी में सिंचाई उपलब्ध होने लगी थी।

इसी बीच लक्ष्मण जी ने गांधी शांति प्रतिष्ठान से प्रकाशित 'आज भी खरे हैं तालाब' पुस्तक पढ़ी। इसे उन्होंने अपने अन्य साथियों को भी पढ़ाया। सभी को लगा कि इसमें जिन परंपराओं का वर्णन है, वे उनकी अपनी परंपराएं रही हैं। इसलिए उन छूटे हुए छोरों को फिर से अपने गांव में मज़बूती से अपनाना चाहिए।

बड़े तालाब को सुधारने के बाद फिर गांव में उससे पहले बने दो छोटे तालाबों को भी सुधारने का काम हाथ में लिया। तीनों तालाबों ने यहां होने वाली वर्षा को अपने ख़ज़ाने में भरना शुरू किया और फिर उसे गांव के कुओं के माध्यम से साल भर तक उपयोग में लाने का रास्ता खोला।

इन तीनों तालाबों ने अपने में पानी समेट कर गांव में सुख बांटने का जो रास्ता खोला था उसके प्रति गांव ने अपना आभार भी जताया। उस पुस्तक में वर्णित तालाबों के नामकरण की परंपरा को सबसे पहले जीवित किया गया। तीनों तालाबों के गुण और स्वभाव को देखते हुए एक सादे और भव्य समारोह में इनका नामकरण किया गया। पहले तालाब का नाम रखा गया देवसागर, दूसरे का नाम फूलसागर और तीसरे का नाम अन्नसागर। पहले दो तालाबों से समाज के लिए पानी न लेने का नियम बनाया गया। फूलसागर के आसपास अच्छे पेड़-पौधे जैसे सफ़ेद आकड़ा, बेलपत्र के पौधे और बग़ीची आदि लगाई गई। देवसागर की पाल पर छतरी, पनघट, पक्षियों के लिए चुगने का स्थान और धर्मशाला आदि स्थापित की गई। तीसरे सबसे बड़े तालाब से गांव की ज़रूरत के मुताबिक़ सिंचाई की व्यवस्था फिर से खड़ी की गई। पहले दो तालाबों से अपने लिए नहीं, लेकिन पशु-पक्षियों, पौधों के लिए पानी लेना और अन्नसागर से अपने लिए पानी निकालना तय किया गया। अपने उपकार और परोपकार का एक सुंदर ढांचा फिर खड़ा हो सका।

गांव में खेती की परिस्थिति कुछ सुधर चली थी, लेकिन किसानी केवल खेती पर नहीं टिकती। पशुपालन उसका एक मज़बूत आधार होता है। लापोड़िया का गोचर पूरी तरह से उजड़ चुका था। देखरेख के अभाव में गांव की यह सार्वजनिक भूमि अब किसी की नहीं रही थी। गोचर की घास तो छोड़िए, वहां के पेड़ भी कट चले थे।

गांव की जो सार्वजनिक बुद्धि तालाबों को सुधारने में लगी थी, अब उस बुद्धि ने गोचर को भी सुधारने का निश्चय किया। फिर से छोटी-छोटी बैठकें शुरू हुईं, कुछ मोटे-मोटे निर्णय लिए गए। अब गोचर में कोई कुल्हाड़ी लेकर नहीं जाएगा, घास नहीं खोदी जाएगी। वन्य जीवों को नहीं

मारना, उनका पूरा संरक्षण और गोचर में उनके लिए पानी की व्यवस्था और घोंसले और अंडे देने की जगहों को बचाने का भी निर्णय लिया गया। बड़े तालाब अन्नसागर में तालाब के बीच में बने लाखेटा को भी इन्हीं सब कारणों से सुरक्षित रखने का मन बनाया गया। गोचर के पुराने वैभव को याद किया गया। किसी बुज़ुर्ग ने बताया कि एक समय में इस गोचर में इतने पेड़ थे कि इन पर इस कोने से उस कोने तक गांव के युवक पेड़ों पर चलने की प्रतियोगिता में भाग लेते थे।

घास और उपयोगी पेड़ों से ढके ऐसे गोचर की बात, तब फिर से एक नया सपना बनकर सामने आई। लेकिन इसे पूरा करना तालाब के काम से कहीं ज़्यादा कठिन था।

गोचर को सुधारने का संकल्प था, उसका अनुभव किसी के पास नहीं था। इसलिए बैठकों में तय हुआ कि इस बारे में जहां कहीं से भी कुछ सीखा जा सकता हो, उसे सीखकर लापोड़िया में उतारना चाहिए।

उन दिनों सरकार के ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में गोचर की कहीं कोई जगह नहीं थी। जो ज़मीन सार्वजनिक उपयोग की थी अब यह केवल ऐसी सरकारी ज़मीन मानी जाती थी, जिस पर चाहे जब, चाहे जो कोई क़ब्ज़ा कर ले। गोचर को फिर से ठीक किया जा सकता है—ऐसा अनुभव कहीं था नहीं। फिर भी लापोड़िया के नवयुवक आसपास जानकारी बटोरने के लिए घूमते रहे। कंटूर बंडिंग का एक तरीक़ा उन्हें बताया गया। लापोड़िया के लोग कंटूर बंडिंग का काम देखने गए।

अजमेर के पास तिहरी नामक एक गांव में विश्व बैंक जैसी प्रसिद्ध संस्था की मदद से भारी पैसा बहाकर पांच साल तक एक गोचर को बंद रखा गया और यहां पशुओं को नहीं जाने दिया। गांव में ख़ूब तनाव रहा, लड़ाई दंगे हुए और बाद में तो लोगों ने गोचर की सीमा पर सुरक्षा के

लिए बनी खाई को पाटकर अपने पशु घुसा दिए थे। सामाजिक इंजीनियरिंग की इन कमियों को फ़िलहाल भूल भी जाएं तो यहां तकनीकी रूप से जो काम किया था, उसे ख़ुद प्रकृति भी याद नहीं रखना चाहती थी। पैसा ख़ूब था, इसलिए सारा काम धीरज और हाथ के बदले ट्रैक्टर से किया गया था। डेढ़ फुट की ऊंचाई के कंटूर ट्रैक्टर के काम के कारण भीतर से पोले थे। पहली बरसात में ही ये पानी के दाब से दबकर 6 इंच के हो गए और फिर तेज़ बहता पानी इनको तोड़कर गोचर विकास का सारा काम अपने साथ बहाकर ले गया था।

इसी तरह के एक और काम में गोचर में ट्रेंच या खाई बनाकर नमी लाने का प्रयत्न किया गया था। यहां भी सफलता हाथ नहीं आई। इसका कारण यह समझ में आया कि बरसात के दौरान खाई में पूरा पानी भर जाता है। ऐसे में उसमें घास नहीं पनप पाती। फिर गर्मी के दिनों में यह पानी तेज़ी से उड़ने लगता है और खाई की गहराई से जुड़ी भूमि की परतों में समाई जा चुकी नमी भी इस तेज़ तापमान के दौरान वापस तेज़ी से सूखने लगती है। यह प्रयोग यदि सफल भी होता, तो लापोड़िया को उसमें कुछ अन्य कमियां भी दिखी थीं। इस काम के लिए काफ़ी समय तक गोचर को बंद करके रखना पड़ता। फिर जो कंटूर बनाए गए थे वे गोचर से आसपास के गांवों से निकलने वाले रास्तों के बीच आते थे। अपना गांव इस रुकावट को स्वीकार भी कर लेता तो दूसरे गांव वाले भला उसे क्यों मानते? फिर कुछ समय के लिए गोचर बंद करते तो गांव के पशु कहां जाते?

ऐसे बहुत से प्रश्नों का उत्तर न बैठकों में मिला और न आसपास देखे गए कामों से मिला। लेकिन लापोड़िया के लोग उजड़े पड़े गोचर के चक्कर लगाते रहे। ऐसे ही किसी चक्कर में श्री लक्ष्मण सिंह को सूझा

कि गोचर में बरसने वाले पानी को वहीं-के-वहीं भीतर डालकर इसकी बरसों पुरानी प्यास बुझानी चाहिए और यह काम कुछ इस ढंग से हो सके कि न पशु रुकें और न रास्ता। गोचर खुला रखा जाए, पानी इस प्रकार से रोका जाए कि गांव का भूमिगत जल भी बढ़े और फिर नमी बढ़ने से गोचर हरा-भरा बने।

गोचर की सार-संभाल करने की इच्छा रखने वाले इन लोगों के पास अपने खेतों में पानी के प्रबंध का, सिंचाई का, नमी फैलाने का अनुभव तो पीढ़ियों से था। लेकिन गोचर खेत नहीं है। इसमें घास, झाड़ी, पेड़-पौधे पनपाने के लिए अब जो कुछ भी तरीक़ा अपनाना था, वह उनके हाथ में नहीं था। इसका एक कारण तो यह था कि गोचर में इससे पहले ऐसा कुछ करने की ज़रूरत नहीं पड़ी थी। उन्हें गोचर पीढ़ियों से हरा-भरा मिला था। लेकिन पिछले दौर में यह सब उजड़ गया था, उसमें कोई नई युक्ति लगाए बिना पानी ठहरने वाला नहीं था।

किसानी के अनुभव ने इतना तो बता ही दिया था कि गोचर में पानी को ठहराना ज़रूरी नहीं है। पानी का संग्रह तालाब में होता है। यहां तो वर्षा के दौरान तुरंत बह जाने वाले पानी को थोड़ी देर के लिए थामना है। पूरा पानी रोक लें तो घास अच्छी नहीं होती। प्रकृति को इतनी नमी भर चाहिए कि वह गोचर भूमि में घास की कोमल जड़ें जमा सके। एक बार घास जम जाए तो उसे बाद की वर्षा में फिर इतना पानी, इतनी नमी चाहिए कि वह सूरज के प्रकाश के साथ इस नमी को जोड़कर घास को और ऊपर उठा सके।

गोचर में क्या नहीं करना चाहिए और क्या-क्या करना है—इन दोनों का पूरा ध्यान रखकर 'बनाजी' ने पहली बार चौका शब्द खोज निकाला। लेकिन जब इस चौका पद्धति को गोचर में उतारा तो चौके की चार

भुजाओं में से एक भुजा हटा दी। अब यह चौका एक बड़ी भुजा और दो छोटी भुजाओं का रूप ले बैठा। संभवत: गोचर विकास के इतिहास में यह 'बनाजी' की देन की तरह दर्ज होने लायक़ घटना घटी थी। इस ढांचे में अब तीन भुजाएं और दो कोने थे। लेकिन वर्षा में जब पानी भरेगा तो यह एक लंबी आयत यानी चार कोनों का रूप ले लेगा। इसीलिए नाम चौका ही रहा।

उजड़ चुके गोचर को फिर से ठीक करने के लिए दृढ़ संकल्प के साथ-साथ पूरी सावधानी बरती गई। ये युवक गांव के बुज़ुर्ग लोगों के साथ पूरे गोचर में दो-चार बार घूमे। इससे पता चला कि ढाल किस तरफ़ है, कितनी है। फिर देखना था कि सारे गोचर में चौका बन जाने के बाद उनमें से बहने वाला पानी निकल कर किस जगह आएगा। इस अतिरिक्त पानी को वहां किसी तालाब या नाड़ी में डालना था। जहां पशु चरें, वहीं पास में पानी चाहिए। यदि पानी दूर हुआ तो दोपहर को पानी पीने दूर जाना पड़ेगा और फिर दुबारा वापसी कठिन होगी।

बुज़ुर्ग लोगों के साथ गोचर घूमने से ये सब बातें अच्छी तरह से ध्यान आ गई थीं। तब फिर काग़ज़ पर एक कच्चा नक़्शा बनाया गया। फिर गोचर में काम शुरू करने से पहले इस नक़्शे के अनुसार ज़मीन पर भी निशान लगाए गए। कहां से कितनी मिट्टी उठेगी और कहां कैसे पड़ेगी, इसे देखा परखा गया। खुदाई और पटकाई वाली जगह में कोई पांच फ़ुट का अंतर छोड़ा, ताकि पटकाई से बनी मेड़ या दीवार पर पानी का दबाव न पड़े और यहां की मिट्टी भी धीरे-धीरे खिसककर खुदाई वाली चौकड़ी में वापस न भर जाए। अंतर और अंतरा शब्द सभी ने सुना है लेकिन यहां अंतरा के साथ संतरा शब्द भी वापस आया है। अंतरा चौकड़ी और मेड़ के बीच का अंतर है और संतरा खुदाई की जगहों के बीच छोड़ी गई दूरी को कहते हैं। इसका पूरा ध्यान रखा गया।

इतना सब हो जाने के बाद चौके की बारी आई। इसे बनाने से पहले सबके साथ बातचीत की गई। सबने मन में कागज़ और ज़मीन पर खींची रेखाएं, नक्शा ठीक से बसाया गया।

आज हमारे गांव जिस तरह से टूट चुके हैं, उनमें चौके के माध्यम से पूरे गांव को, किसानों को, पशुपालकों को जोड़ने का काम चुटकी भर में हो जाता, ऐसा मान लेना बहुत भोलापन होगा। इस काम को शुरू करते ही घास पनपने से पहले गांव में गंदी और स्वार्थी राजनीति पनप उठी। पूरे गांव की एकता को तोड़ते हुए कुछ लोग उठ खड़े हुए। उन्होंने चौके का विरोध किया। अफ़वाह फैल गई कि संस्था के लोग गोचर पर क़ब्ज़ा करना चाहते हैं। बचे-खुचे पेड़ों को न काटने का जो संकल्प गांव ने लिया था, उसी पर इन लोगों ने कुल्हाड़ी मार दी। चुने हुए जन-प्रतिनिधि, गांव की पंचायत उनके साथ हो गई। पंचायत ने 16 सितंबर 1995 को मात्र दो हज़ार रुपए में पूरे गोचर में कटाई का ठेका उठा दिया। यह भी घोषणा उन्होंने की कि यदि गोचर को सुधारना है, उसका विकास करना है तो यह काम ग्राम पंचायत ही करेगी।

लेकिन सत्य गांव के साथ था, संस्था के साथ था, इसलिए इस बेहद अप्रिय प्रसंग में लोगों ने सत्य का आग्रह भी जता दिया-गोचर में सत्याग्रह शुरू हुआ। ठंड के दिन थे। दिनभर स्त्री-पुरुष पूरे गोचर में घूम-घूम कर उसकी रखवाली करने लगे। लेकिन दिन की रखवाली पर्याप्त नहीं हुई। तब गोचर बचाने वाले लोग ठंड की रात में अपने घरों को छोड़कर रज़ाई और कंबल लेकर गोचर में सोए। भविष्य में पूरा गांव चैन की नींद सो सके, इसके लिए 1995 की ठंड में गोचर के ये रखवाले खुले आकाश के नीचे बैठे रहे और बारी-बारी से पहरा देते रहे। बड़ी उम्र के लोगों के साथ युवा, महिलाएं और परिवार के छोटे बेटे-बेटियों ने भी अपने

दादा, काका, पिता और मां का साथ दिया। फिर पुलिस आई, कलेक्टर आए, छोटे-बड़े अधिकारी, पटवारी आए। सबने दोनों पक्षों के साथ बैठकर सारी परिस्थिति समझी। गोचर में पेड़ काटने का ठेका निरस्त किया गया। उसके बदले तय हुआ कि गोचर के लिए नुक़सानदेह पेड़ विलायती बबूल ही काटा जाएगा। धरती का अच्छा काम किया तो पुण्य मिला और गोचर बच गया।

इस बैठक में निर्णय लिया गया कि गोचर पर से क़ब्ज़े भी हटेंगे। पटवारी ज़रीब लेकर इस काम में आगे आए। गांव के नक़्शे के आधार पर पूरी नपाई हुई और इसमें न रिश्तों का ध्यान रखा गया और न दोस्ती का। लक्ष्मणजी ने पूरे प्रेम के साथ, लेकिन पूरी दृढ़ता से बता दिया था कि दोस्ती सिर्फ़ गोचर से है, क्योंकि इस गोचर से पूरे गांव की ख़ुशहाली जुड़ी है।

बरसों का क़ब्ज़ा छुड़ाना आसान काम नहीं होता। जिसका क़ब्ज़ा हटाया जाता है, उसके मन में बहुत कड़वाहट आ जाती है। इस कड़वाहट को दूर करने के लिए गोचर में ही पूरे गांव का सामूहिक भोज रखा गया। पूरी के साथ सीरा, हलवा परोसा गया। गांव के 200 घरों से कोई 400 लोगों ने भोजन किया। सहभोज में परोसे गए मीठे सीरे ने सारी कड़वाहट मिटा दी।

इसी भोज के बाद गोचर से विलायती बबूल हटाने का काम शुरू हुआ। सभी लोग जानते हैं कि गोचर गांव के पशुओं के चरने की जगह है। लेकिन पिछले दौर में गोचर के पेड़ कट गए थे, घास खोद ली गई थी। फिर इस तरह की ग़लती को छिपाने के लिए सूखे और उजड़े गोचरों में यहां-वहां हरा रंग बिखेरने के लिए, हरियाली दिखाने के लिए कुछ समय पहले विलायती बबूल का रोपण किया गया था। यह लापोड़िया के

गोचर में भी आ जमा था। इसमें कोई शक नहीं कि यह जल्दी बढ़ता है, लेकिन कोई भी पशु इसे खाता नहीं है। फिर इसके आसपास कोई दूसरा उपयोगी पौधा भी नहीं पनप पाता। हर मौसम में इसकी फलियां चारों तरफ़ बिखरती हैं, और विलायती बबूल का साम्राज्य बढ़ता जाता है और पूरे गोचर को अपना ग़ुलाम बना लेता है। इसलिए इस सामूहिक भोज के बाद विलायती बबूल को पूरे गोचर से हटाने का सुंदर देसी अभियान भी प्रारंभ हुआ।

गांव के लोगों ने पूरे गोचर में घूम कर विलायती बबूल की गिनती की। फिर उस गिनती को गांव के कुल परिवारों में बांटा। कोई छह सौ पेड़-पौधे विलायती बबूल के थे और गांव में 200 परिवार थे। तय किया गया कि प्रति परिवार तीन विलायती बबूल जड़ समेत उखाड़ना है। इस पेड़-झाड़ी का ज़रा-सा हिस्सा भी छूट जाए तो इसे फिर से बढ़ने में देर नहीं लगती। इसलिए बिना देरी किए अगले छह महीने में गोचर से इसे हटाना तय हुआ। जड़ समेत खोदने के बाद जो गड्ढे निकले, उनमें इन्हीं परिवारों ने देसी बबूल, बेर, तरह-तरह की उपयोगी घास के बीजों का रोपण किया।

शुरू के दिनों में चौका बनाने के बाद उत्साह में बाहर से पौधे और तरह-तरह की घास के बीज लाकर लगाए गए। लेकिन इनके परिणाम बहुत अच्छे नहीं निकले। गोचर में जितना ज़रूरी था उतना पानी रोका गया था। बाक़ी अतिरिक्त पानी चौकों को बिना तोड़े आगे बहता रहा था। इसलिए भले ही बाहर से लाकर बोए गए बीज अंकुरित नहीं हुए, लेकिन बिना बोए बीजों ने तर हुई गोचर की भूमि में अपना सिर उठाकर इसे हरा-भरा करना शुरू कर दिया। वर्षा के दिनों में पूरे गोचर में जैसे पानी चलता, उसके सूखते ही नमी वाली उस जगह पर प्रकृति तरह-तरह की

घास से हरे रंग की जाजम, दरी बिछा देती। पिछली कुछ पीढ़ियों ने घास के जो प्रकार खो दिए थे, उनकी स्मृति और बोलियों में घास और झाड़ियों के जो नाम गायब हो गए थे, वे एक-एक कर लापोड़िया के गोचर में लौटने लगे। विलायती बबूल हटा दिया गया, देसी बबूल बोया नहीं गया था, लेकिन नमी मिलते ही पुरानी दबी जड़ों में प्राण आ गए और जगह-जगह उपयोगी घास, पौधे और झाड़ियां बढ़ने लगीं। प्रकृति की स्मृति में यह मिटा नहीं था, इसलिए फिर लापोड़िया के समाज की स्मृति में भी ये नाम एक-एक करके वापस आने लगे।

अपने गोचर को सुधारने के इस संकल्प को लापोड़िया ने कर्म में बदला और फिर उसका विस्तार भी किया। आसपास के सभी गांव में युवा मंडल बनाए गए। सभी से संपर्क किया गया और गोचर, तालाब, पेड़ पौधों और वन्य जीवों को बचाने के लिए बैठकें की गईं, पदयात्राएं निकाली गईं। आस-पड़ोस के गांव से शुरू हुआ यह काम बाद में और आगे बढ़कर 84 गांव में फैल गया। देवउठनी ग्यारस से तालाब और गोचर पूजन का काम प्रारंभ हो जाता है और फिर जगह-जगह ऐसी पदयात्राएं, जन-जागरण के लिए निकल पड़ती हैं। सब का काम सबको साथ लिए बिना सध नहीं सकता। इसलिए गोचर आंदोलन में हर जगह इस बात का ध्यान रखा गया है कि कोई छूट न जाए। आज यदि कोई स्वार्थवश इस काम में शामिल नहीं हो रहा है तो यहां पूरा धीरज रखा गया है। उसे समझाया गया है कि उसका भी हित सार्वजनिक हित से ही जुड़ा हुआ है।

लापोड़िया वापस लौटें। शुरू से ही पूरे गांव को गोचर से जोड़ने की चाल और व्यवस्था बनाई गई। अभी पेड़ नहीं थे, लेकिन छोटी-छोटी झाड़ियां मज़बूत होने लगी थीं, उन्हें और अधिक सहारा देने के लिए

वातावरण बनाया जाना था। इसलिए इन झाड़ियों की रखवाली के लिए क़ानून या सख़्ती के बदले प्रेम और श्रद्धा का सहारा लिया गया। लापोड़िया गांव के स्त्री-पुरुषों ने इन छोटी-छोटी झाड़ियों को राखी बांधी और इनकी रक्षा का वचन लिया। शायद इन झाड़ियों ने भी मन-ही-मन लापोड़िया की रक्षा करने का संकल्प ले लिया था।

तभी तो आज 6 साल के अकाल के बाद भी लापोड़िया में इतना चारा है, इतना हरा चारा है, पशु इतने प्रसन्न हैं कि यहां अकाल के बीच में भी दूध की बड़ी न सही, लेकिन एक छोटी नदी तो बह ही रही है। आज लापोड़िया में प्रतिदिन 40 केन यानी कोई 1600 लीटर दूध हो रहा है। घर परिवार और बच्चों की ज़रूरतें पूरी करने के बाद ही दूध की बिक्री की जाती है। जयपुर डेयरी यहां से हर महीने ढाई लाख रुपए का दूध ख़रीद रही है। इस तरह आज लापोड़िया हर वर्ष लगभग 30 लाख रुपए का दूध पैदा कर रहा है। और यह दूध गांव में लौटी हरियाली से है।

उजड़े हुए गोचर में आज चौका पद्धति के कारण न जाने कितनी तरह की घास और तरह-तरह के पौधे वापस आए हैं। इन सबकी गोचर में अपनी-अपनी विशेष जगह तय हो रही है। ऐसा लगता है कि प्रकृति इनके स्थान का आरक्षण करती चल रही है। कहीं पसरकटेली है, तो कहीं ऊंटकटेला, कहीं ख़रगोश चूंटी है, तो कहीं गंदेल और लापणा तो कहीं झेरणा। अब गोचर में लोग प्रवेश करते हैं तो उत्सुकता के साथ निकल रही हर कोंपल को, पत्ती को, अंकुर को पहचानने की, नाम बताने की या नाम पूछने की कोशिश करते हैं। लापोड़िया का गोचर वनस्पति शास्त्र की एक नई पाठशाला बन गया है। आपस की बातचीत में किसान, पशुपालक और ग्वालों की टोली में नए नामों को पहचानने और खोजने

की होड़-सी लग गई है। कोई बताएगा कि इस घास का क्या नाम है, तो कोई उसके गुण और लाभ सामने रखेगा, तो कोई सबके आगे बढ़कर उस घास के स्वभाव का ऐसा वर्णन करेगा—जैसे वह उसके परिवार का सदस्य हो— 'गांठ-गठीली घास कूदते चलती है।' यहां अब पुरानी क़िस्मों के इतने सारे नाम इकट्ठा हो गए हैं कि नए ज़माने के नाम जैसे स्टाइलो, धामन और रिजका पीछे छूट जाते हैं।

घास के साथ-साथ फिर लापोड़िया गांव का ध्यान गोचर और गांव में पेड़ों पर गया है। पूरे गांव ने मिलकर गोचर से विलायती बबूल हटा दिया था। अब प्रकृति को थोड़ी राहत मिली थी, इसीलिए गोचर में नमी पाते ही देसी बबूल, रौंझ, खेजड़ी, कैर, जाल, जहां जो संभव हुआ धीरे-धीरे पनपने लगा। प्रकृति में तेज़ी से बढ़ने वाले पेड़ों की कोई ख़ास जगह नहीं होती। यह धीरज का काम है। इसीलिए लापोड़िया गांव ने अपना धीरज नहीं खोया और जो पेड़ आने लगे थे, उन्हें बचाने और बढ़ने का अवसर देने का वातावरण बनाया। लेकिन इसके लिए पशुओं को रोका नहीं। गांव ने माना कि पशु इस व्यवस्था में शत्रु नहीं हैं। वे मित्र हैं और उनकी मित्रता गोचर को हरा-भरा बनाती है। गाय का गोबर, बकरी और ख़रगोश की मेंगनी अपने में तरह-तरह की घास और पेड़ों के बीज लिए रहती है। पशु-पक्षी के पेट की रासायनिक क्रिया इनके कठोर कवच को नरम बनाती है और मेंगनी आदि के रूप में इन बीजों के आसपास खाद बांधती है। पूरे गोचर में बिखरी मेंगनी चौके में पानी भरने, बहने और फिर यहां-वहां आने-जाने के कारण अपने-अपने भार को देखते हुए तैरती हैं और उचित मौक़ा देखकर ठहर जाती हैं। फिर नमी और धूप इनके अंकुरण में सहायक बनती है।

लापोड़िया में गोचर विकास के इन प्रारंभिक कामों के साथ-साथ लोगों का ध्यान गोचर की पूरी व्यवस्था की ओर भी जाने लगा है। गांव

पिछले दौर में जिस परंपरा को, जिस ज्ञान को और जिस अनुशासन को खो बैठा था, भुला बैठा था, अब उसका थोड़ा-सा अंश जब वापस आने लगा, तो उसके संपूर्ण रूप, संपूर्ण दर्शन की स्मृति भी लौटने लगी है।

आज लापोड़िया में पशुओं की संख्या बढ़ी है। पक्षियों की संख्या भी बढ़ी है और उनकी जातियां भी। इसी तरह वन्य जीवों की भी उपस्थिति दिखने लगी है। मोर, कोयल, पपीहा, ख़रगोश, नेवला, जंगली बिल्ली, गिलहरी, झामूसा और तरह-तरह के मित्र कीट-पतंगे खेतों और गोचर में सहज मिलने-दिखने लगे हैं। गांव में मकानों पर, दीवारों पर पशुपक्षियों के जो चित्र बनाए जाते थे, आज वे दीवारों से उतर कर गांव में फैल गए हैं।

गांव में अब बेगसा की बात होती है। बेगसा यानी गांव और गोचर के बीच पशुओं के बैठने की, एकत्र होने की या आराम करने की जगह। कुछ क्षेत्रों में बेगसा को गोठान भी कहा जाता है, जो संस्कृत शब्द 'गोस्थान' से बना है। राजस्थान के इन क्षेत्रों में वर्षा कम ही होती है, इसलिए परंपरा से यहां के किसान खेती के साथ-साथ पशुपालन पर पूरा ध्यान देते रहे हैं। पशु उनके लिए सिर्फ़ कमाई का साधन नहीं थे। ये उनके सांस्कृतिक और दार्शनिक समाज के जीवंत सदस्य थे। इसलिए इन्हें यहां से वहां हांक कर नहीं ले जाना है। उसकी पूरी व्यवस्था बनाई गई थी। 'बेगसा' इसी बड़ी व्यवस्था का एक छोटा-सा अंग था।

प्रायः हर घर में पशु होते थे, लेकिन उस घर के सदस्य पशुओं के साथ ख़ुद गोचर नहीं जा पाते थे। इस ज़िम्मेदारी को गांव के ग्वाले निभाते थे। हर मोहल्ले और टोले से गोचर में जाने वाले पशुओं का झुंड धीरे-धीरे निकलता। किसी गली से पांच-दस पशु निकलते तो कहीं से बीस-तीस। ये सब गांव से गोचर के रास्ते में गांव के पास बने 'बेगसा' में बिठा दिए

जाते। फिर जब ग्वाले अपने-अपने पशुओं के साथ आ जाते, तो फिर सब एक साथ गोचर की तरफ़ बढ़ते।

लेकिन आज जब गांवों में गोचर ही नहीं बचा है, तो किस गांव में बेगसा या गोठान मिल पाएगा? कभी लापोड़िया में बेगसा पैंतीस बीघा में थी, लेकिन फिर धीरे-धीरे गोचर उजड़ा और फिर उसी के साथ बेगसा भी। पुरानी पीढ़ियों ने गांव के पास ही इतनी बड़ी जगह पशु समाज के आराम के लिए छोड़ी थी। लेकिन नई पीढ़ियों को यह क़ीमती जगह की बर्बादी लगी होगी। इसलिए इस पर भी क़ब्ज़े होते गए। आज जिन पंचायतों के हाथ में गांव के विकास की ज़िम्मेदारी है, वहां का नेतृत्व इस क़ीमती जगह को गुमटी, दुकान या हाट-बाज़ार में बदलने के लिए आतुर है। लेकिन लापोड़िया फिर से 'बेगसा' को भी बचाने का मन बना रहा है।

इस पूरी व्यवस्था के विस्तार में जाएं, तो समझ में आएगा कि गांव का हमारा किसान-समाज कितना संगठित था। कहीं-कहीं गांव से गोचर का रास्ता बिल्कुल अलग रखा जाता था। यह लोगों के पैदल चलने या बैलगाड़ी चलाने वाले रास्तों से दूर रहता था। ऐसे रास्तों को कांकड की गैली कहा जाता था। ग्वालों का पारिश्रमिक पशुओं की गिनती के अनुसार प्राय: अनाज में और कभी-कभी पैसे के रूप में भी मिलता था। इस बंधी आमदनी के अलावा साल भर आने वाले तीज-त्योहारों पर किसान परिवार ग्वालों को कपड़ा, छाता, जूते, अपनी-अपनी हैसियत से देते थे। दीपावली पर ग्वालों के नाच का विशेष महत्व था। लक्ष्मी पूजन आज सबको मालूम है, लेकिन उसी दिन गो-पूजन भी होता था। गोधन से ही लक्ष्मी आती थी। दीपावली की सुबह पूरे गांव को जगाने का काम सुरीले गीत गाकर ग्वाले ही करते थे। गांव में इसी दिन या कहीं-कहीं दशहरे के दिन बैलों को सजाया जाता, उनकी दौड़ होती ओर कहीं-कहीं बैलों की लड़ाई भी।

इन कुछ विशेष दिनों में गाय-बैलों को अलग से पकवान भी बनाकर खिलाए जाते थे।

इन्हीं दिनों मौसम बदलता, फ़सलें कटतीं और खेत ख़ाली हो जाते थे। तब कई ग्रामीण क्षेत्रों में ख़ाली खेत बैलगाड़ियों की दौड़ का मैदान बन जाते। ऐसे आयोजनों से पहले अलसी और गुड़ के लड्डू, गुड़-दलिया और कहीं-कहीं तो घी भी बैलों को पिलाया जाता था। खेतिहर समाज अपनी नींव बैल और गाय को मानता था और इस पर किसानी का पूरा वैभव खड़ा होता था।

लापोड़िया और उसके आसपास के कई गांवों में आज भी बैलों के शक्ति प्रदर्शन के खेल होते हैं। यहां कहीं भी चलते-फिरते आपको एक ऐसा बड़ा सजा हुआ पत्थर पड़ा हुआ दिखे तो समझ लें कि यह घांस बाबा है। यह शब्द पत्थर को घसीटने, घेंसने से बना है। एक विशेष दिन, प्रायः दीपावली के दूसरे दिन गांव के सब परिवार अपने-अपने बैलों की शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए इकट्ठे होते हैं। बैल के पीछे इस पत्थर को बांधा जाता है और वह बैल इसे लेकर कितना दूर जा सकता है—इसकी परीक्षा होती है। जो बैल सबसे अधिक दूरी तय करता है, उसको पुरस्कार मिलता है और फिर साल भर तक उस बैल की और उसके मालिक परिवार की गांव में विशेष हैसियत बनी रहती है।

कल्पना कीजिए उस ढांचे की, जिसमें खेतिहर समाज अपने पशुओं का इतना अधिक ध्यान रखता था। तब आज की तरह दूध का उद्योग नहीं था, डेयरी व्यवस्था नहीं थी, न दूध का संग्रह होता था और न दूध बिकता ही था। दूध की तुक पूत से थी। और दोनों को बेचना अच्छा नहीं माना जाता था। तब इन गांवों में दूध की नदियां कैसे बहती थीं, इस बात को आसानी से समझा जा सकता है।

आज जब गोचर की तरफ़ फिर से ध्यान जा रहा है, तब इस बात को भी याद दिलाना चाहिए कि हमारे ग्रामीण समाज ने अपने पशुओं की देखरेख के लिए एक सुविचारित ढांचा खड़ा किया था। गोचर उसका एक हिस्सा था।

लापोड़िया का ही इतिहास देखें तो पता चलता है कि यहां लगभग 320 बीघे में गोचर के अलावा इसी से मिलते-जुलते काम के लिए एक छोटा बीड़, एक बड़ा बीड़ और चौइली नामक स्थान सुरक्षित रखा गया था। गोचर में गाय और अन्य छोटे पशु चरने के लिए भेजे जाते थे। वहां के चारे का आकार-प्रकार और गुण ऐसे ही पशुओं के शरीर की काठी और उनकी भूमिका के हिसाब से तय किए जाते थे। लेकिन बीड़ में ज़्यादा बड़ा और पौष्टिक चारा होता था और इन सब स्थानों का वर्ष भर का ऋतु चक्र या कैलेंडर बना रहता था।

बरसात होते ही पूरे गांव के बैल चौइली में भेजे जाते थे। यहां प्राकृतिक चारा उपलब्ध होता था। पचास बीघे की इस चौइली में किसी एक परिवार के नहीं, ज़मींदार या ठिकानेदार परिवार के नहीं बल्कि गांव के सभी परिवारों के बैल छोड़े जाते थे। बरसात में उठा यह चारा दीपावली तक थोड़ा कमज़ोर हो जाता था। उसके बाद चौइली के बैल बीड़ में भेजे जाते और बैलों से खाली हुई चौइली में अब गाय और बकरी की बारी आती। चौइली में चराई पूरी तरह से निःशुल्क थी, लेकिन बीड़ में प्रतीक रूप में, नाम मात्र का शुल्क लिया जाता था और यह राज में जमा होता था। इस तरह जमा की गई यह राशि इन्हीं स्थानों की देखरेख के मद में ख़र्च की जाती थी। होली के बाद गर्मी का मौसम आने लगता और तब इन इलाक़ों से चारा काटकर कटी हुई जगह में भी पशुओं को रखा जाता था। इस दौरान लोग अपने-अपने खेतों में

भी कुछ चारा लगाकर रखते थे। इस भंडार का उपयोग होता। फिर जुलाई से दीपावली तक गायें गोचर में आ जातीं।

इस पूरी व्यवस्था में हर स्थान को पूरा आराम देने का विशेष ख़्याल रखा जाता था। समय का बंटवारा इस तरह से किया जाता कि खुली चराई से पहले उस स्थान विशेष में लगी घास या चारा ठीक से पनप जाए, उसमें फूल और फल यानी बीज आ जाएं, नए बीज फिर से गिर जाएं जड़ें जम जाएं ताकि आज उसके उपयोग के बाद कल उसकी दूसरी फ़सल अपने आप आ जाए। इन सभी स्थानों के ऋतु चक्र के अनुसार अलग-अलग प्रजाति की घास और चारा सुरक्षित रखा जाता था। गर्मी की दोब गर्मी में ही फैलती है। लेकिन बरसात में यह नहीं फूटती। सावां घाम नामक चारा बरसात के अच्छे पानी में भी खड़ा रहेगा।

गांव की परंपरा में निजी संपत्ति और सार्वजनिक संपत्ति का बहुत बारीक विभाजन किया गया था। सार्वजनिक संपत्ति के लिए गांव में चलने वाला शब्द 'शामलात-देह' है। यह फ़ारसी शब्द शामिल और देहात से मिलकर बना है। अर्थ स्पष्ट है—जिसमें पूरा गांव हो। शाब्दिक अर्थ के अलावा इसमें यह भावना भी छिपी रहती थी कि इसमें सारा गांव सेवक की तरह काम करेगा।

स्वामी और सेवक की भूमिका में किसी तरह की चूक न हो, इसलिए बहुत व्यवस्थित नियम बनाए गए थे। लेकिन इन नियमों पर पहरा देती थी श्रद्धा। दंड का भी विधान ज़रूर था। लेकिन शामलात-देह की रखवाली श्रद्धा पर टिकी थी। इसका बहुत सुंदर उदाहरण है कुराड नामक गांव।

कुराड गांव में आज भी पुरानी परंपरा के हिसाब से एक बड़े गोचर की रखवाली हो रही है। इसमें न खाई है, न कटीले तार हैं और न किसी विभाग के चौकीदार। लेकिन लंबे-चौड़े गोचर में एक भी पत्ती, एक भी

टहनी की चोरी नहीं होती। समय-समय पर गोचर और ओरण की सीमा पर 'कार' लगाई जाती है। 'कार' मंत्रों और पूजा से पवित्र किए गए दूध, गोमूत्र और गंगाजल का मिश्रण होता है। इसे एक ऐसे धातु के पात्र में, घड़े में डाला जाता है जिसमें नीचे एक छोटा-सा छेद होता है। पात्र का मुंह दो तरफ़ झूलने वाली रस्सी से बांध कर दो लोग इसे उठाते हैं और तेज़ी से चलते हैं। इस तरह गोचर की पूरी सीमा पर 'कार' से रेखा खींची जाती है। पीछे पूरा गांव चलता है। मिट्टी में गिरने वाली दूध और गंगाजल की यह बारीक रेखा कुछ ही क्षणों बाद सूख जाती है लेकिन पूरे गांव के मन पर यह अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है। 'कार' लगने के बाद सब लोग ज़मीन से मिट चुकी लेकिन मन में खिंच गई उस अमिट रेखा का पालन करते हैं। कुराड में आज सूखा और गिरा पड़ा पेड़ भी कोई बाहर नहीं लाता, पेड़ काटने की तो बात ही छोड़िए। लेकिन कुराड जैसे उदाहरण आसपास के अन्य गांव में अब नहीं दिखते। एक समय रहा होगा, जब इस तरह के काम कई गांव में रहे होंगे। शायद सभी गांवों में।

कोई भी अच्छा काम सूख चुके समाज में आशा की थोड़ी नमी बिखेरता है और फिर नई जड़ें जमती हैं, नई कोपलें फूटती हैं। ग्राम विकास नवयुवक मंडल लापोड़िया के प्रयासों से गोचर को सुधारने का यह काम अब धीरे-धीरे आसपास के गांवों में भी फैल चला है। गागरडू, डोरिया, सीतापुर, नगर, सहल सागर, महत्त गांव, गणेशपुरा आदि अनेक गांवों में आज चौका पद्धति से गोचर को सुधारने का काम बढ़ रहा है। सब जगह ऐसे काम की ज़रूरत है, लेकिन ऐसे काम के पीछे जैसा संगठन, जैसा धीरज चाहिए यदि वैसा न हो तो यह काम खड़ा नहीं हो पाता। आज कोई अस्सी गांवों में यह काम बढ़ रहा है। इनमें से कोई पंद्रह गांवों में यह काफ़ी आगे जा सका है।

कुछ गांव लापोड़िया के गोचर विकास के काम को खुद देखने आए तो कुछ जगह लापोड़िया के लोग स्वयं गए। अनुभवों का आदान-प्रदान हुआ और इस तरह यह काम धीरे-धीरे अन्य गांवों में फैल रहा है। लेकिन केवल चौका बनाने भर से गोचर नहीं संभल पाता। इसकी सफलता का रहस्य समाज के संगठन में छिपा हुआ है। स्वार्थ से ऊपर उठे बिना ऐसा संगठन बन नहीं पाता।

एक गांव में जब गोचर पर काम शुरू हुआ तो वहां के थोड़े से लोगों ने इसका विरोध किया। इन लोगों ने राजनीति और जाति दोनों का खुलकर उपयोग किया। मंत्री से लेकर नीचे तक के अधिकारियों को फ़ोन करवाया कि कुछ 'गुंडे' गोचर पर क़ब्ज़ा करने के लिए गोचर विकास का भ्रामक कार्यक्रम लेकर आए हैं। फिर यह मामला अदालत तक भी गया, लेकिन अंत में लोक संगठन काम आया। उसकी नैतिक ताक़त के आगे ये लोग झुक गए। जिनकी जीत हुई, वे हारे हुए लोगों के सामने और अधिक झुक गए। इस विनम्रता ने हार-जीत का अंतर मिटा दिया। ऐसे प्रसंग यह भी बताते हैं कि गांव को सुधारने की योजनाओं में सरकार को बिल्कुल निष्पक्ष रह कर काम करना चाहिए। आरोप सामने आएं तो धीरज के साथ उनकी जांच की जानी चाहिए और गोचर जैसे मामलों में अपनी क़ानूनी ज़िम्मेदारी जाति और राजनीति से ऊपर उठकर निभानी चाहिए।

सिर्फ़ यहां ही नहीं, पूरे देश में गोचर के साथ अच्छी मानी गई सरकारों ने भी कई तरह की गड़बड़ियां की हैं। वोट की राजनीति गांव के भूमिहीन और दलित का प्रश्न उठाकर गोचर की ज़मीन खेती के लिए बांटकर वाहवाही लूटती है। देश के नेतृत्व को भी समझना चाहिए कि कमज़ोर माने गए वर्ग के पास जो बकरियां हैं, जो पशु हैं आख़िर वो कहां चरने जाएंगे? लापोड़िया और उसके आसपास के गांवों का यह पक्का अनुभव है कि गोचर विकास का लाभ ऐसे परिवारों को भी भरपूर मिलता

है। इसीलिए धीरे-धीरे अब राजस्व के अधिकारी भी इस क्षेत्र में ग्राम विकास की योजनाओं में गोचर पर भी ध्यान देने लगे हैं।

राजस्व बोर्ड के अध्यक्ष और ग्रामीण विकास सचिव से लेकर कई ज़िलों के कलेक्टर, तहसीलदार, बी.डी.ओ. अब लापोड़िया के काम को एक आदर्श काम मानकर यहां सीखने आते हैं और फिर अपने-अपने क्षेत्रों में शासन की विभिन्न परियोजनाओं के माध्यम से इस कार्यक्रम को उठा रहे हैं। लापोड़िया के इस काम का प्रभाव अब उच्च स्तर पर बनने वाली नीतियों पर भी कुछ हद तक पड़ने लगा है। इसे अकाल राहत में भी शामिल किया जा रहा है। अब राज्य सरकार ने इसे ग़रीबी मिटाने वाले कार्यक्रम से जोड़ा है।

लापोड़िया के इस सफल प्रयोग ने कुछ और बातों की तरफ़ भी ध्यान खींचा है। सन् 1998 के बाद से देश के कोई आधे हिस्से में अकाल पड़ता रहा है। अनेक हिस्सों में औसत से आधी और कहीं-कहीं उससे भी कम वर्षा हुई है। इस भयानक परिस्थिति से निपटने के लिए अनेक संस्थाओं ने और फिर उनके प्रभाव से सरकारों ने भी वर्षा जल संग्रह के लिए तरह-तरह की योजनाएं बनाई हैं और उन्हें पूरा करने के लिए क़दम उठाए हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में पुराने तालाबों को ठीक करने और नए तालाब बनाने की तरफ़ ध्यान गया है।

लेकिन गोचर विकास का यह काम बताता है कि तालाबों में तो पानी रोकना ही चाहिए, साथ-साथ इसी उद्देश्य को और आगे बढ़ाने के लिए गोचर की तरफ़ भी ध्यान देना चाहिए। यह काम दो तरह से गांव को अकाल से लड़ने के लिए मज़बूत बनाता है। गांव में गोचर का क्षेत्रफल प्रायः तालाब के भराव से कई गुना ज़्यादा होता है। यहां वर्षा के एक मौसम में 8-9 इंच पानी एक बड़े भू-भाग में तेज़ी से बहकर बर्बाद जाने के बदले चौका पद्धति से एक कोने से दूसरे कोने तक धीरे-धीरे भूमि

में समाता जाता है। इस तरह यह भूजल को उठाता है, सूखी धरती का पेट भरता है उसकी प्यास बुझाता है और फिर अच्छी नमी के कारण गोचर में घास की जाजम बिछाता है। इससे गांव के पास अकाल से लड़ने के लिए पानी भी रहता है और पशुओं के लिए पर्याप्त घास भी।

आज लापोड़िया गांव में कोई 200 घरों के बीच बस्ती और उनके खेतों में 103 कुएं हैं। 6 साल के अकाल के बाद भी आज इनमें से हर कुएं में पर्याप्त मात्रा में पानी उपलब्ध है। इस छिपे ख़ज़ाने का उपयोग लापोड़िया गांव फ़सल उगाने के अलावा अपने पशुओं के लिए हरा चारा पैदा करने के काम में भी लगा रहा है। अकाल के जिन दिनों में आसपास के दूसरे गांव में बाहर से सूखा चारा लाना पड़ा है या अपने पशुओं को राहत शिविरों में भेजना पड़ा है, वहीं लापोड़िया का लगभग हर घर अपने खेत के एक छोटे-से टुकड़े पर, आधा बीघा, एक बीघा पर अपने पशुओं के लिए हरा चारा उगाता है। खेत के इस टुकड़े की सुरक्षा के लिए कोई चार-पांच फ़ुट ऊंची मिट्टी की एक दीवार भी बनाई जाती है। इस चारे को उगाने के लिए पानी उनके कुएं से आता है। साधारण खेतों में अकाल के बीच खड़ी फ़सल का हरा रंग देखकर जो अचरज होता है, उसी खेत के साथ मिट्टी के क़िलेनुमा टुकड़े में दुगुने गहरे रंग का चारा देखकर वह अचरज बिल्कुल चौगुना हो जाता है।

अपने गोचर और तालाबों में श्रम का पसीना बहाकर जो पानी रोका गया है, उसने लापोड़िया को बहुत हद तक हरा बना दिया है। अब इस हरियाली का रंग लोगों के मन पर भी दिखने लगा है। अब उन्हें लगता है कि उन्होंने लापोड़िया में इन सब कामों को करने के लिए कुछ वर्ष पहले जो संघर्ष किया था, जो आंदोलन चलाया था वही सब दूसरे गांवों में करना ज़रूरी है। गांव के मन को हरा बनाने का काम आनंद और सहयोग की नींव पर खड़ा होना चाहिए। आज लापोड़िया के लोग गोचर

की परंपरा के बारे में पुरानी भूल चुकी बातों को तरह-तरह से इकट्ठा कर रहे हैं, पुराने नियम और क़ायदे समझ रहे हैं। इनमें से क्या दोबारा अपनाने लायक़ है, इसका परीक्षण कर रहे हैं। गोचर शब्द गाय को, गोवंश को केंद्र में रखकर बना है। लेकिन गोचर में गाय, बैल के अलावा ऊंट, भेड़ और बकरी भी चरने आ सकती हैं। प्रतिबंध यदि है तो केवल पड़ोसी गांव के पशुओं के लिए। उसका सीधा-सा कारण बस यही है कि पड़ोसी गांव को भी मेहनत कर अपना गोचर इतना अच्छा बना लेना चाहिए कि उनके पशुओं को दूसरे गोचर में जाने की ज़रूरत न पड़े। एक गांव के पशु अपने गोचर की हद से बाहर चरने के लिए दूसरे गोचर में नहीं जा सकते—इसका सबसे बड़ा उदाहरण राजस्थान के भरतपुर क्षेत्र में मिलता है। इस क्षेत्र में एक स्थान का नाम 'गोहद' है। ऐसा कहा जाता है कि यहां तक श्रीकृष्ण अपनी गायें चराने आ सकते थे। लेकिन इसके बाद उनकी हद, सीमा समाप्त हो जाती थी। हमारे गांवों ने पशुपालन का जो व्यवस्थित ढांचा खड़ा किया था, उसमें तीन लोकों के स्वामी भगवान श्रीकृष्ण के लिए भी उतने ही कड़े नियम लागू किए थे, जितने कि साधारण पशुपालकों के लिए होते थे।

गोचर के उपयोग का यह व्यवस्थित ढांचा अपने गांव, पड़ोसी गांव और दूर के गांव की भी ज़रूरतों को ध्यान में रखकर बनाया गया था। बाहर के पशुओं का झुंड गांव के गोचर से गुज़र सकता था, उन पर रोक नहीं थी। लेकिन वे छोटे से गांव को, छोटे से गोचर को पूरी तरह से न उजाड़ें इसकी सावधानी रखी जाती थी। वे गोचर से गुज़र सकते थे, चर सकते थे। खेली में पानी पी सकते थे, लेकिन लंबे समय तक चरने के लिए उसी गांव के खेतों में किसान के साथ सहमति के आधार पर बैठाए जाते थे। इस बिठाई का मतलब था कि खेतों में फ़सल कटाई के बाद बचे डंठल ये पशु चर सकते हैं। खेतों में इनकी उपस्थिति से भूमि को मेंगनी, गोबर और मूत्र से क़ीमती खाद मिलती थी।

देश के बहुत बड़े हिस्से में पशुपालक, ख़ासकर भेड़ पालक अपने बड़े-बड़े झुंडों को लेकर अलग मौसम में अलग-अलग रास्तों से घूमते रहते हैं। भेड़ों के इन बड़े रेवड़ों की आवक-जावक का पूरा नक़्शा फ़सलों की कटाई के कैलेंडर से जोड़कर रखा गया था। सैकड़ों, हज़ारों भेड़ों के झुंड एक जगह का चारा समाप्त होने पर इस तरह दूसरे क्षेत्रों में पहुंचते थे और उन ख़ाली खेतों में बैठकर उन्हें अपने मल-मूत्र से सुंदर खाद देते थे।

किसान और भेड़ पालक के बीच का यह संतुलित रिश्ता अब नई फ़सलों और नए कैलेंडर के कारण टूट चूका है और उसी अनुपात में इन दोनों समुदायों के बीच भयंकर तनाव भी देखने में आ रहा है। मध्य प्रदेश और राजस्थान की सीमा पर हर वर्ष इनमें संघर्ष भी होने लगा है। अब यह दुखद परिस्थिति धीरे-धीरे राजस्थान के क्षेत्रों में भी आने लगी है।

लापोड़िया का गोचर संरक्षण आंदोलन और अब उसका दूसरे गांवों में विस्तार हमें यह भी बताता है कि बाहरी शत्रु से लड़ना अपेक्षाकृत कम कठिन काम है। लेकिन जब लड़ाई अपनों से, अपने ही गांव के लोगों से हो, अपने रिश्तेदारों से हो तो कुछ दूसरी ही तरह की परीक्षा सामने होती है। इसमें संघर्ष के स्वरूप, विरोध के नारे, धरना, जुलूस से ऊपर उठना पड़ता है। अपने को सुधारते हुए गांव को सुधारना होता है। सबको मालिक बनाते हुए उनमें सेवक की भावना भी आ सके—यदि ऐसा करना हो तो संघर्ष करने वालों को भी सेवक की भूमिका में आना होता है।

आज लापोड़िया में अनेक किसान गांव के उठे हुए जलस्तर के कारण एक बीघा-दो-बीघा में हरा चारा ले रहे हैं। यह कोई छोटी अवधि की फ़सल नहीं है। वर्ष भर, बारह मास यानी तीन सौ पैंसठ दिन लगभग एक मन चारा रोज़ निकालना अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि है। वह भी उस गांव में जहां अकाल का छठा साल बैठा हो। किसान पशु पालन में

कई बातों का ध्यान रखते हैं। जिस तरह से हम लोग एक-सा भोजन खाते-खाते तंग आ सकते हैं, इसी तरह पशु भी हैं। इन्हें वर्ष भर अलग-अलग ढंग से चारा देने का पूरा कैलेंडर गांव समाज ने व्यवस्थित रूप से बनाया था। गोचर और चौइली तथा बीड़ के अलावा किसानों के अपने घरों में, बाड़ों में 'भुखारा' और 'भुरिया' बनाया जाता रहा है। भुखारा कोई सात-आठ हाथ चौड़ा इतना ही ऊंचा और 50-70 हाथ लंबा एक कच्चा ढांचा होता है। इसमें तीस-चालीस ट्रॉली चारा वर्ष भर के लिए जमा रखा जाता है। एक ट्रॉली में कोई 40 मन आता है। भुखारा में कटा हुआ चारा जमा किया जाता है। यह गुवार, बाजरा, ज्वार और गेहूं की फ़सलों के डंठल और भूसे से बनता है। इस ढांचे में लंबाई वाले हिस्से में खिड़कीनुमा दो झरोखे होते हैं, जिन्हें खोलकर ज़रूरत के अनुसार चारा निकाला जाता है। शेष चारा पूरे वर्ष भर सुरक्षित रखा रहता है। भुरियां में साबुत चारा एकत्र किया जाता है। इसका आकार कोई 25 फ़ुट ऊंचा और 15 फ़ुट चौड़ा भौंरेनुमा होता है। इसमें कटी फ़सल के डंठल इस विशेष ढंग से जमाए जाते हैं कि बिल्कुल खुले आकाश के नीचे रखे रहने के बाद भी यह चारा भीगता नहीं, सड़ता नहीं। ऊपर से लेकर नीचे तक की चिनाई उसी चारे से होती है। फिर भी एक बूंद पानी भीतर नहीं जाता है। इस व्यवस्था के माध्यम से पशुओं को पूरे साल भर तक सार्वजनिक स्थानों के अलावा घर से भी पौष्टिक खुराक मिलती रहती थी।

ऊपर बताए गए ढांचों के अलावा एक और ढांचा बनाया जाता था। उसका नाम था 'बागर'। यह ढांचा आज़ादी से पहले तक चलन में था। फिर ठिकानेदारी, रियासतों के राज जाने के बाद यह भी चलन से हट गया।

बागर की सुरक्षा के लिए बाड़ लगाई जाती थी। इसमें कोई पच्चीस हाथ चौड़ा चालीस हाथ लंबा और 15 हाथ ऊंचा घास का ढेर होता था।

इसलिए इसे गांव की मुख्य आबादी से थोड़ा हटकर बनाया जाता था—कभी आग आदि की दुर्घटना हो ही जाए तो बस्ती पर उसका बुरा असर न पड़े। इस व्यवस्था में भी कोई रखवाला नहीं होता था और यह भी किसी की निजी संपत्ति नहीं मानी जाती थी। पूरा गांव चलते-चलते रखवाली करता था।

बागर एक तरह का चारा बैंक, कोष होता था जो संकट के समय में खुल जाता था। तब इसमें से जो जितना चारा लेता, उतना ही चारा अच्छी फ़सल आने पर इस कोष में वापस भर देता था। बागर के कोष से चारा देते समय तराज़ू का उपयोग नहीं होता था। यह गांव की अपनी व्यवस्था थी और अपने लोगों के लिए थी। फिर भी चारा लेते और देते समय एक मोटा हिसाब रखा जाता था। इसके लिए पगड़ी का उपयोग होता था। प्रति परिवार सात हाथ का बंडल पगड़ी में बंध जाए—इतना चारा दिया जाता था। और ऐसे ही सात हाथ की पगड़ी में जितना बंडल बंधता है, उतना वापस हो जाता था। अकाल से लड़ने के लिए गांव की इस व्यवस्था में, तरकश में कई तीर होते थे। जैसे चारे की व्यवस्था थी, उसी तरह संकट के दौर को पार करने के लिए अनाज का भंडार भी जमा किया जाता था। इसके लिए खाई नामक एक ढांचा बनाया जाता था। यह व्यवस्था भी रियासत के बाद पूरी तरह से टूट चुकी है। खाई एक तरह का सूखा कुआं होता था। इसमें अनाज का भंडार सुरक्षित रखा जाता था। हरेक खाई कोई 10 से 15 हाथ गहरी और 7 हाथ के व्यास की गोलाई लिए हुए होती थी। यह गोलाई नीचे से ऊपर आते समय थोड़ी कम हो जाती थी। पूरा अनाज भर जाने पर इसे मिट्टी के घोल से ढक्कन बनाकर बंद कर दिया जाता था। सभी खाइयां थोड़े ऊंचे स्थानों पर बनाई जाती थीं, ताकि बरसात की नमी और पानी इनमें न जा पाए। खाई के भीतर बहुत सावधानी से गोबर और मिट्टी से लिपाई की जाती थी। इसमें कुछ भाग राख का भी होता था ताकि अनाज में कीड़े न लगें।

लापोड़िया गांव में आज़ादी से पहले तक बीस खाइयां थीं। अच्छी फ़सल आने पर हर घर से इसमें एक निश्चित मात्रा में अनाज डालकर बंद कर दिया जाता था। जब तक गांव की सभी खाइयां भर नहीं जाती थीं, तब तक गांव से एक दाना भी बाहर बेचा नहीं जा सकता था। इन खाइयों में तीन वर्ष तक अनाज सुरक्षित रखा जाता था। यदि इस अवधि में अकाल नहीं पड़े तो खाई खोलकर उसका अनाज वापस किसानों में वितरित हो जाता था। यदि अकाल आ ही गया तो ये खाइयां उस संकट को सहने के लिए खोल दी जाती थीं। अकाल का संकट आने पर खाई खोलने का निर्णय गांव के दो पटेल और ठिकानेदार की एक छोटी-सी बैठक में तुरंत लिया जाता था। उसके बाद गांव के घरों की ज़रूरत देखते हुए एक के बाद एक खाई खुलती जाती थी और अनाज का वितरण होता जाता था। एक मोटे हिसाब से प्रति परिवार प्रति माह कोई एक मन अनाज बांटा जाता था। अकाल समाप्त होने पर अच्छी पैदावार आने पर इन्हीं परिवारों से चालीस किलो के बदले 50 किलो अनाज वापस लेकर फिर से खाई में सुरक्षित रख दिया जाता था।

गांव की बीस खाइयों में से केवल चार खाई ठिकानेदार के गढ़ के भीतर थीं। शेष 16 गांव के सार्वजनिक स्थानों पर बनी थीं। इन सोलह खाइयों की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी उनके सामने पड़ने वाले घरों की होती थी। ये परिवार भी सभी जातियों के और सभी तरह की आर्थिक स्थिति के होते थे। एक खाई मंदिर के सामने थी और उसकी रखवाली पुरोहित खुद करते थे। भगवान की पूजा में भक्तों की पूजा, गांव की पूजा भी शामिल रहती थी। गढ़ के भीतर चार खाई इसलिए रखी जाती थीं कि कहीं किसी हमले में गांव की खाइयों में आग लगा दी जाए तो कम-से-कम गढ़ की चार खाई सुरक्षित रह सकेंगी। आज भारतीय खाद्य

निगम जैसी व्यवस्था गांव का अनाज गांव से बाहर निकालकर कहीं दूर शहरों में जमा करता है और संकट के समय उसे ठीक समय पर गांवों में वापस नहीं कर पाता। खाई खाद्य सुरक्षा का बेहतर प्रबंध था।

आज 200 घरों का छोटा-सा लापोड़िया गांव पशुपालन और किसानी के बीच टूट चुके इन संबंध को जोड़ने का एक बड़ा काम कर रहा है। 6 साल के अकाल के बाद आज इस गांव में दूध का ख़ूब उत्पादन हो रहा है। इसमें भी संतुलन बनाकर रखा गया है। अपने घर की ज़रूरत का दूध बचा लिया जाता है। शेष मात्रा जयपुर की डेयरी को दी जाती है। अकाल के बाद भी लापोड़िया में जमा होने वाला दूध डेयरी के अन्य केंद्रों से मात्रा में भी ज़्यादा है और गुणवत्ता में भी। लापोड़िया के पास शुद्ध चारा है। यहां ज्वार, बाजरा, ग्वार और हरे चारे के उत्पादन में किसी भी प्रकार की रासायनिक खाद और कीटनाशक बिल्कुल नहीं डाला जाता। इसलिए आज शुद्ध दूध है, अच्छी फ़सल है और आज लगभग हर घर के पास भुरियां हैं। कुछ के पास एक से भी ज़्यादा। इन भुरियों में फ़सल कटाई के बाद बचे डंठल चारे की तरह संग्रह किए जाते हैं और इनका उपयोग अगले किसी संकट के दौर में होता है।

लापोड़िया ने तालाबों के साथ-साथ अपना गोचर भी बचाया है और इन दोनों ने मिलकर—यानी तालाब और गोचर ने लापोड़िया को बचा लिया है। आज गांव की प्यास बुझ चुकी है। छह साल के अकाल के बाद भी यहां संतुष्ट धरती में चारों तरफ़ हरियाली है। कोयल की गूंज है तो साधारण-सी मानी जाने वाली चिड़ियों की असाधारण चहचहाहट है।

लापोड़िया गांव में किसी भी सड़क, गली या चौराहे का नाम किसी जन-नायक के नाम पर नहीं मिलेगा। गांव में कहीं भी गांधीजी की मूर्ति नहीं है। लेकिन आज पूरा गांव गांधीजी के आदर्शों का मूर्तरूप बनने का

प्रयत्न कर रहा है। गांव के पुराने झगड़े आपसी बातचीत से समाप्त हो चुके हैं। पुलिस और कचहरी के चक्कर लगाने के बदले अब लापोड़िया के लोग साल भर आने वाले त्योहारों में मिलकर नाचते-गाते हैं, गुलाल उड़ाते हैं। शहनाई और ढोल-नगाड़ों की आवाज़ सुनाई देती है। आनंद की इस वर्षा के बीच में आप किसी भी दिन पाएंगे कि गांव के बुज़ुर्ग—रामकरण दादा, कालू दादा, रामकरण मामा और उनके साथ अगली पीढ़ी के युवक-युवतियां आसपास और दूर के गांवों में निकल गए हैं, ताकि वहां भी प्रकृति के इस पूजन का काम प्रारंभ हो सके और वहां भी लापोड़िया की तरह तालाब, गोचर का प्रसाद आनंद से बंट सके। लापोड़िया में अच्छे विचारों से अच्छे कामों का श्रीगणेश हो चुका है।

तैरने वाला समाज डूब रहा है

जुलाई (2004) के पहले पखवाड़े में उत्तर बिहार में आई भयानक बाढ़ अब आगे निकल गई है। लोग उसे भूल गए हैं। लेकिन याद रखना चाहिए कि उत्तर बिहार उस बाढ़ की मंज़िल नहीं था। वह एक पड़ाव भर था। बाढ़ की शुरूआत नेपाल से होती है फिर वह उत्तर बिहार आती है। उसके बाद बंगाल जाती है। और सबसे अंत में-सितंबर के अंत या अक्तूबर प्रारंभ में-वह बांग्लादेश में अपनी आख़री उपस्थिति जताते हुए सागर में मिलती है। इस बार उत्तर बिहार में बाढ़ ने बहुत अधिक तबाही मचाई। कुछ दिन सभी का ध्यान इसकी तरफ़ गया। जैसा कि अक्सर होता है, हेलिकॉप्टर आदि से दौरे हुए। फिर हम इसको भूल गए।

बाढ़ अतिथि नहीं है। यह कभी अचानक नहीं आती। दो-चार दिन का अंतर पड़ जाए तो बात अलग है। इसके आने की तिथियां बिल्कुल तय हैं। लेकिन जब बाढ़ आती है तो हम कुछ ऐसा व्यवहार करते हैं कि यह अचानक आई विपत्ति है। इसके पहले जो तैयारियां करनी चाहिए, वे बिल्कुल नहीं हो पाती हैं। इसलिए अब बाढ़ की मारक क्षमता पहले से अधिक बढ़ चली है। पहले शायद हमारा समाज बिना इतने बड़े प्रशासन के या बिना इतने बड़े निकम्मे प्रशासन के अपना इंतज़ाम बख़ूबी करना जानता था। इसलिए बाढ़ आने पर वह इतना परेशान नहीं दिखता था।

इस बार की बाढ़ ने उत्तर बिहार को कुछ अभिशप्त इलाक़े की तरह छोड़ दिया है। सभी जगह बाढ़ से निपटने में अव्यवस्था की चर्चा हुई है। अव्यवस्था के कई कारण भी गिनाए गए हैं—वहां की असहाय ग़रीबी आदि। लेकिन बहुत कम लोगों को इस बात का अंदाज़ होगा कि उत्तर बिहार एक बहुत ही संपन्न टुकड़ा रहा है इस प्रदेश का। मुजफ़्फ़रपुर की लीचियां, पूसा ढोली की ईख, दरभंगा का शाहबसंत धान, शकरकंद, आम, चीनिया केला और बादाम और यहीं के कुछ इलाक़ों में पैदा होने वाली तंबाकू, जो पूरे शरीर के नसों को हिला कर रख देती है। सिलोत क्षेत्र का पतले-से-पतला चूड़ा, जिसके बारे में कहा जाता है कि वह नाक की हवा से उड़ जाता है, उसके स्वाद की चर्चा तो अलग ही है। वहां धान की ऐसी भी क़िस्में रहीं हैं जो बाढ़ के पानी के साथ-साथ खेलती हुई ऊपर उठती जाती थीं और फिर बाढ़ को विदा कर खलिहान में आती थीं। फिर दियारा के संपन्न खेत।

सुधी पाठक इस सूची को न जाने कितना बढ़ा सकते हैं। इसमें पटसन और नील भी जोड़ लें तो आप 'दुनिया के सबसे बड़े' यानी लंबे प्लेटफ़ॉर्म पर अपने आप को खड़ा पाएंगे। एक पूरा संपन्न इलाक़ा उत्तर बिहार आज दयनीय स्थिति में क्यों पड़ गया है? हमें सोचना चाहिए। सोनपुर का प्लेटफ़ॉर्म। ऐसा कहते हैं कि यह हमारे देश का सबसे बड़ा प्लेटफ़ॉर्म है। यह अंग्रेज़ों के समय में बना था। क्यों बनाया गया इतना बड़ा प्लेटफ़ॉर्म? यह वहां की संपन्नतम चीज़ों को रेल से ढोकर देश के भीतर और बाहर ले जाने के लिए बनाया गया था। लेकिन आज हम इस इलाक़े की कोई चिंता नहीं कर रहे हैं और उसे एक तरह से लाचारी में छोड़ बैठे हैं।

बाढ़ आने पर सबसे पहला दोष तो हम नेपाल को देते हैं। नेपाल एक छोटा-सा देश है। बाढ़ के लिए हम उसे कब तक दोषी ठहराते रहेंगे? कहा जाता है कि नेपाल ने पानी छोड़ा, इसलिए उत्तर बिहार बह गया। यह देखने लायक़ बात होगी कि नेपाल कितना पानी छोड़ता है। मोटे तौर

पर हम कह सकते हैं कि नेपाल बाढ़ का पहला हिस्सा है। वहां हिमालय की चोटियों पर जो पानी गिरता है, उसे रोकने की उसके पास कोई क्षमता और साधन नहीं हैं। और शायद उसे रोकने की कोई व्यावहारिक ज़रूरत भी नहीं है। रोकने से ख़तरे और भी बढ़ सकते हैं। इसलिए नेपाल पर दोष थोपना बंद करना होगा।

यदि नेपाल पानी रोकेगा तो आज नहीं तो कल हमें अभी की बाढ़ से भी भयंकर बाढ़ को झेलने की तैयारी करके रखनी पड़ेगी। हम सब जानते हैं कि हिमालय का यह हिस्सा कच्चा है और इसमें कितनी भी सावधानी और ईमानदारी से बनाए गए बांध किसी-न-किसी तरह से प्रकृति की किसी छोटी-सी हलचल से टूट भी सकते हैं। और तब आज से कई गुना भयंकर बाढ़ हमारे सामने आ सकती है। यदि नेपाल को ही दोषी ठहराया जाए तो कम-से-कम बिहार के बाढ़ नियंत्रण का एक बड़ा भाग-पैसों का, इंजीनियरों का, नेताओं का अप्रैल और मई में नेपाल जाना चाहिए ताकि वहां यहां की बाढ़ से निपटने के लिए पुख़्ता इंतज़ामों के बारे में बातचीत की जा सके। बातचीत मित्रवत हो, तकनीकी तौर पर हो और ज़रूरत पड़े तो फिर मई में ही प्रधानमंत्री नहीं तो प्रदेश के मुख्यमंत्री ही नेपाल जाएं और आगामी जुलाई में आने वाली बाढ़ के बारे में चर्चा करके देखें।

हमें भूलना नहीं चाहिए कि हम बाढ़ के रास्ते में हैं। उत्तर बिहार से पहले नेपाल में भी काफ़ी लोगों को बाढ़ के कारण जान से हाथ धोना पड़ा है। पिछले साल नेपाल में भयंकर भूस्खलन हुए थे, और तब हमें पता चल जाना चाहिए था कि अगले साल हम पर भी बड़ा संकट आएगा, क्योंकि हिमालय के इस कच्चे भाग में जितने भूस्खलन हुए, उन सबका मलबा वहीं-का-वहीं पड़ा था और वह इस वर्ष की बरसात में नीचे उतर आने वाला था।

उत्तर बिहार की परिस्थिति भी अलग से समझने लायक़ है। यहां पर हिमालय से अनगिनत नदियां सीधे उतरती हैं और उनके उतरने का एक ही सरल उदाहरण दिया जा सकता है। जैसे पाठशाला में टीन की फिसलपट्टी होती है, उसी तरह से ये नदियां हिमालय से बर्फ़ की फिसलपट्टी से धड़ाधड़ नीचे उतरती हैं। हिमालय के इसी क्षेत्र में नेपाल के हिस्से में सबसे ऊंची चोटियां हैं और कम दूरी तय करके ये नदियां उत्तर भारत में नीचे उतरती हैं। इसलिए इन नदियों की पानी की क्षमता, उनका वेग, उनके साथ कच्चे हिमालय से, शिवालिक से आने वाली मिट्टी और गाद इतनी अधिक होती है कि उसकी तुलना पश्चिमी हिमालय और उत्तर-पूर्वी हिमालय से नहीं कर सकते।

एक तो वह सबसे ऊंचा क्षेत्र है, कच्चा भी है, फिर भ्रंश पर टिका हुआ इलाक़ा है। यहां भौगोलिक परिस्थितियां ऐसी हैं जहां से हिमालय का जन्म हुआ है। बहुत कम लोगों को अंदाज़ होगा कि हमारा समाज भी भू-विज्ञान को 'जिओ मार्फ़ॉलॉजी' को ख़ूब अच्छी तरह समझता है। इसी इलाक़े में ग्याहरवीं शताब्दी में बना वराह अवतार का मंदिर भी है जो किसी और इलाक़े में आसानी से मिलता नहीं है। यह हिस्सा कुछ करोड़ साल पहले किसी एक घटना के कारण हिमालय के रूप में सामने आया। यहीं से फिर नदियों का जाल बिछा। ये सरपट दौड़ती हुई आती हैं—सीधी उतरती हैं। इससे उनकी ताक़त और बढ़ जाती है।

जब हिमालय बना तब कहते हैं कि उसके तीन पुड़े थे। तीन तहें थीं। जैसे मध्यप्रदेश के हिस्से में सतपुड़ा है वैसे यहां तीन पुड़े थे। आंतरिक, मध्य और बाह्य। बाह्य हिस्सा शिवालिक सबसे कमज़ोर माना जाता है। वैसे भी भूगोल की परिभाषा में हिमालय के लिए कहा जाता है कि यह अरावली, विंध्य और सतपुड़ा के मुक़ाबले बच्चा है। महीनों के बारह पन्ने पलटने से हमारे सभी तरह के कैलेंडर दीवार पर से उतर

जाते हैं। लेकिन प्रकृति के कैलेंडर में लाखों वर्ष का एक पन्ना होता है। उस कैलेंडर से देखें तो शायद अरावली की उम्र नब्बे वर्ष होगी और हिमालय? अभी चार-पांच बरस का शैतान बच्चा है। वह अभी उछलता-कूदता है, खेलता-डोलता है। टूट-फूट उसमें बहुत होती रहती है। अभी उसमें प्रौढ़ता या वयस्क वाला संयम, शांत, धीरज वाला गुण नहीं आया है। इसलिए हिमालय की ये नदियां सिर्फ़ पानी नहीं बहाती हैं, वे साद, मिट्टी, पत्थर और बड़ी-बड़ी चट्टानें भी साथ लाती हैं। उत्तर बिहार का समाज अपनी स्मृति में इन बातों को दर्ज कर चुका था।

एक तो चंचल बच्चा हिमालय, फिर कच्चा और तिस पर भूकंप वाला क्षेत्र भी-क्या कसर बाक़ी है? हिमालय के इसी क्षेत्र से भूकंप की एक बड़ी और प्रमुख पट्टी गुज़रती है। दूसरी पट्टी इस पट्टी से थोड़े ऊपर के भाग में मध्य हिमालय में आती है। सारा भाग लाखों बरस पहले के अस्थिर मलबे के ढेर से बना है और फिर भूकंप इसे जब चाहे और अस्थिर बना देते हैं। भू-विज्ञान बताता है कि इस उत्तर बिहार में और नेपाल के क्षेत्र में धरती में समुद्र की तरह लहरें उठी थीं और फिर वे एक दूसरे से टकरा कर ऊपर-ही-ऊपर उठती चली गईं और फिर कुछ समय के लिए स्थिर हो गईं, यह 'स्थिरता' तांडव नृत्य की तरह है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में लाखों वर्ष पहले 'मियोसिन' काल में घटी इस घटना को उत्तरी बिहार के समाज ने अपनी स्मृति में वराह अवतार के रूप में जमा किया है। जिस डूबती पृथ्वी को वराह ने अपने थूथनों से ऊपर उठाया था वह आज भी कभी भी कांप जाती है। 1934 में जो भूकंप आया था उसे अभी भी लोग भूले नहीं हैं।

लेकिन यहां के समाज ने इन सब परिस्थितियों को अपनी जीवन शैली में, जीवन दर्शन में धीरे-धीरे आत्मसात किया था। प्रकृति के इस विराट रूप में वह एक छोटी-सी बूंद की तरह शामिल हुआ। उसमें कोई घमंड

नहीं था। वह इस प्रकृति से खेल लेगा, लड़ लेगा। वह उसकी गोद में कैसे रह सकता है—इसका उसने अभ्यास करके रखा था। क्षणभंगुर समाज ने करोड़ वर्ष की इस लीला में अपने को प्रौढ़ बना लिया और फिर अपनी प्रौढ़ता को हिमालय के लड़कपन की गोद में डाल दिया था। लेकिन पिछले सौ–डेढ़–सौ साल में हमारे समाज ने ऐसी बहुत सारी चीज़ें की हैं जिनसे उसका विनम्र स्वभाव बदला है और उसके मन में थोड़ा घमंड भी आया है। समाज के मन में न सही तो उसके नेताओं के, योजनाकारों के मन में यह घमंड आया है।

समाज ने पीढ़ियों से, शताब्दियों से, यहां फिसलगुंडी की तरह फुर्ती से उतरने वाली नदियों के साथ जीवन जीने की कला सीखी थी, बाढ़ के साथ बढ़ने की कला सीखी थी। उसने और उसकी फ़सलों ने बाढ़ में डूबने के बदले तैरने की कला सीखी थी। वह कला आज धीरे-धीरे मिटती जा रही है। उत्तर बिहार में हिमालय से उतरने वाली नदियों की संख्या अनंत है। कोई गिनती नहीं है, फिर भी कुछ लोगों ने उनकी गिनती की है। आज लोग यह मानते हैं कि यहां पर इन नदियों ने दुख के अलावा कुछ नहीं दिया है। पर इनके नाम देखेंगे तो इनमें से किसी भी नदी के नाम में, विशेषण में दुख का कोई पर्यायवाची देखने को नहीं मिलेगा। लोगों ने नदियों को हमेशा की तरह देवियों के रूप में देखा है। लेकिन हम उनके विशेषण दूसरी तरह से देखें तो उनमें आपको बहुत तरह-तरह के ऐसे शब्द मिलेंगे जो उस समाज और नदियों के रिश्ते को बताते हैं। कुछ नाम संस्कृत से होंगे। कुछ गुणों पर होंगे और एकाध अवगुणों पर भी हो सकते हैं।

इन नदियों के विशेषणों में सबसे अधिक संख्या है—आभूषणों की। और ये आभूषण हंसुली, अंगूठी और चंद्रहार जैसे गहनों के नाम पर हैं। हम सभी जानते हैं कि ये आभूषण गोल आकार के होते हैं—यानी यहां पर

नदियां उतरते समय इधर-उधर सीधी बहने के बदले आड़ी-तिरछी गोल आकार में क्षेत्र को बांधती हैं—गांवों को लपेटती हैं और उन गांवों का आभूषणों की तरह शृंगार करती हैं। उत्तर बिहार के कई गांव इन 'आभूषणों' से ऐसे सजे हुए थे कि बिना पैर धोए आप इन गांवों में प्रवेश नहीं कर सकते थे। इनमें रहने वाले आपको गर्व से बताएंगे की हमारे गांव की पवित्र धूल गांव से बाहर नहीं जा सकती, और आप अपनी (शायद अपवित्र) धूल गांव में ला नहीं सकते। कहीं-कहीं बहुत व्यावहारिक नाम भी मिलेंगे। एक नदी का नाम गोमूत्रिका है—जैसे कोई गाय चलते-चलते पेशाब करती है तो ज़मीन पर आड़े-तिरछे निशान पड़ जाते हैं। इतनी आड़ी-तिरछी बहने वाली यह नदी है। इसमें एक-एक नदी का स्वभाव देख कर लोगों ने इसको अपनी स्मृति में रखा है।

एक तो इन नदियों का स्वभाव और ऊपर से पानी के साथ आने वाली साद के कारण ये अपना रास्ता बदलती रहती हैं। कोसी के बारे में कहा जाता है कि पिछले कुछ सौ साल में 148 किलोमीटर के क्षेत्र में अपनी धारा बदली है। उत्तर बिहार के दो ज़िलों की इंच भर ज़मीन भी कोसी ने नहीं छोड़ी है जहां से वह बही न हो। ऐसी नदियों को हम किसी तरह के तटबंध या बांध से बांध सकते हैं, यह कल्पना भी करना अपने आप में विचित्र है। समाज ने इन नदियों को अभिशाप की तरह नहीं देखा। उसने इनके वरदान को कृतज्ञता से देखा। उसने यह माना कि इन नदियों ने हिमालय की क़ीमती मिट्टी इस क्षेत्र के दलदल में पटक कर बहुत बड़ी मात्रा में खेती योग्य ज़मीन निकाली है। इसलिए वह इन नदियों को बहुत आदर के साथ देखता रहा है। कहा जाता है कि पूरा-का-पूरा दरभंगा खेती योग्य हो सका तो इन्हीं नदियों द्वारा लाई गई मिट्टी के कारण ही। लेकिन इनमें भी समाज ने उन नदियों को छांटा है जो अपेक्षाकृत कम साद वाले इलाक़े से आती हैं।

ऐसी नदियों में एक है—खिरोदी। कहा जाता है कि इसका नामकरण क्षीर अर्थात दूध से हुआ है क्योंकि इसमें साफ़ पानी बहता है। एक नदी जीवछ है, जो शायद जीवात्मा या जीव इच्छा से बनी होगी। सोनबरसा भी है। इन नदियों के नामों में गुणों का वर्णन देखेंगे तो किसी में भी बाढ़ से लाचारी की झलक नहीं मिलेगी। कई जगह लालित्य है इन नदियों के स्वभाव में। सुंदर कहानी है मैथिली के कवि विद्यापति की। कवि जब अस्वस्थ हो गए तो उन्होंने अपने प्राण नदी में ही छोड़ने का प्रण किया। कवि प्राण छोड़ने नदी की तरफ़ चल पड़े, मगर बहुत अस्वस्थ होने के कारण नदी किनारे तक नहीं पहुंच सके। कुछ दूरी पर ही रह गए तो उन्होंने नदी से प्रार्थना की कि हे मां, मेरे साहित्य में कोई शक्ति हो, मेरे कुछ पुण्य हों तो मुझे ले जाओ। कहते हैं कि नदी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और कवि को बहा ले गई।

नदियां विहार करती है, उत्तर बिहार में। वे खेलती हैं, कूदती हैं, यह सारी जगह उनकी है। इसलिए वे कहीं भी जाएं उसे जगह बदलना नहीं माना जाता था। उत्तर बिहार में समाज का एक सरल दर्पण साहित्य रहा होगा तो दूसरा तरल दर्पण नदियां थीं। इन असंख्य नदियों में वहां का समाज अपना चेहरा देखता था और नदियों के चंचल स्वभाव को बड़े शांत भाव से देह में, अपने मन और अपने विचारों में उतारता था। इसलिए कभी वहां कवि विद्यापति जैसे सुंदर क़िस्से बनते तो कभी फुलपरास जैसी घटनाएं रेत में उकेरी जातीं। नदियों की लहरें रेत में लिखी इन घटनाओं को मिटाती नहीं थीं—हर लहर इन्हें पक्के शिलालेखों में बदलती थी। ये शिलालेख इतिहास में मिलें न मिलें लोगों के मन में, लोक स्मृति में मिलते थे। फुलपरास का क़िस्सा यहां दोहराने लायक़ है।

कभी भुतही नदी फुलपरास नाम के एक स्थान से रास्ता बदल कर कहीं और भटक गई। तब भुतही को वापस बुलाने के लिए अनुष्ठान किया

गया। नदी ने मनुहार स्वीकार की और अगले वर्ष वापस चली आई! ये कहानियां समाज इसलिए याद रखवाना चाहता है कि लोगों को मालूम रहे कि यहां की नदियां कवि के कहने से भी रास्ता बदल लेती हैं और साधारण लोगों के आग्रह को स्वीकार कर अपना बदला हुआ रास्ता फिर से सुधार लेती हैं। इसलिए इन नदियों के स्वभाव को ध्यान में रख कर जीवन चलाओ। ये सभी चीज़ें हम लोगों को इस तरफ़ ले जाती हैं कि जिन बातों को भूल गए हैं उन्हें फिर से याद करें।

कुछ नदियों के बहुत विचित्र नाम भी समाज ने हज़ारों साल के अनुभव से रखे थे। इनमें से एक विचित्र नाम है—अमरबेल। कहीं इसे आकाशबेल भी कहते हैं। इस नदी का उद्‌भव और संगम कहीं नहीं दिखाई देता है। कहां से निकलती है, किस नदी में मिलती है—ऐसी कोई पक्की जानकारी नहीं है। बरसात के दिनों में यह अचानक प्रकट होती है और जैसे पेड़ पर अमरबेल छा जाती है। वैसे ही एक बड़े इलाक़े में इसकी कई धाराएं दिखाई देती हैं। फिर ये ग़ायब भी हो जाती हैं। यह भी ज़रूरी नहीं कि वह अगले साल इन्हीं धाराओं में से बहे। तब यह अपना कोई दूसरा नया जाल खोज लेती है। एक नदी का नाम है दस्यु नदी। यह दस्यु की तरह दूसरी नदियों की 'कमाई' हुई जलराशि का, उनके वैभव का हरण कर लेती है। इसलिए पुराने साहित्य में इसका एक विशेषण वैभवहरण भी मिलता है।

फिर बिल्कुल चालू बोलियों में भी नदियों के नाम मिलते हैं। एक नदी का नाम मरने है। इसी तरह एक नदी मरगंगा है। भुतहा या भुतही का क़िस्सा तो ऊपर आ ही गया है। जहां ढेर सारी नदियां हर कभी हर कहीं से बहती हों सारे नियम तोड़ कर, वहां समाज ने एक ऐसी भी नदी खोज ली थी जो टस-से-मस नहीं होती थी। उसका नाम रखा गया— धर्ममूला।

ऐसे भूगोलविद समझदार समाज के आज टुकड़े-टुकड़े हो गए हैं। ये सब बताते हैं कि नदियां यहां जीवंत भी हैं और कभी-कभी वे ग़ायब भी हो जाती हैं, भूत भी बन जाती हैं, मर भी जाती हैं। यह सब इसलिए होता है कि ऊपर से आने वाली साद उनमें—भरान और धसान--ये दो गतिविधियां इतनी तेज़ी से चलाती हैं कि उनके रूप हर बार बदलते जाते हैं।

बहुत छोटी-छोटी नदियों के वर्णन में ऐसा मिलता है कि इनमें ऐसे भंवर उठते हैं कि हाथियों को भी डुबो दें। इनमें चट्टानें और पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़े आते हैं और जब वे आपस में टकराते हैं तो ऐसी आवाज़ आती है कि दिशाएं बहरी हो जाएं! ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि कुछ नदियों में बरसात के दिनों में मगरमच्छों का आना इतना अधिक हो जाता है कि उनके सिर या थूथने गोबर के कंडे की तरह तैरते हुए दिखाई देते हैं। ये नदियां एक-दूसरे से बहुत मिलती हैं, एक-दूसरे का पानी लेती हैं और देती भी हैं। इस आदान-प्रदान में जो खेल होता है उसे हमने एक हद तक अब बाढ़ में बदल दिया है। नहीं तो यहां के लोग इस खेल को दूसरे ढंग से देखते थे। वे बाढ़ की प्रतीक्षा करते थे।

इन्हीं नदियों की बाढ़ के पानी को रोक कर समाज बड़े-बड़े तालाबों में डालता था और इससे इनकी बाढ़ का वेग कम करता था। एक पुराना पद मिलता है-'चार कोसी झाड़ी।' इसके बारे में नए लोगों को अब ज़्यादा कुछ पता नहीं है। पुराने लोगों से ऐसी जानकारी एकत्र कर यहां के इलाक़े का स्वभाव समझना चाहिए। चार कोसी झाड़ी का कुछ हिस्सा शायद चंपारण में बचा है। ऐसा कहते हैं कि पूरे हिमालय की तराई में चार कोस की चौड़ाई का एक घना जंगल बचा कर रखा गया था। इसकी लंबाई पूरे बिहार में ग्यारह-बारह सौ किलोमीटर तक चलती थी। यह पूर्वी उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र तक जाता था। चार कोस चौड़ाई और उसकी लंबाई

हिमालय की पूरी तलहटी में थी। आज के ख़र्चीले, अव्यावहारिक तटबंधों के बदले यह विशाल वन-बंध बाढ़ में आने वाली नदियों को छानने का काम करता था। तब भी बाढ़ आती रही होगी, लेकिन उसकी मारक क्षमता ऐसी नहीं होगी।

ढाई हज़ार साल पहले के एक संवाद में बाढ़ का कुछ वर्णन मिलता है। संवाद भगवान बुद्ध और एक ग्वाले के बीच है। ग्वाले के घर में किसी दिन भगवान बुद्ध पहुंचे हैं। काली घटाएं छाई हुई हैं। ग्वाला बुद्ध से कह रहा है कि उसने अपना छप्पर कस लिया है, गाय को मज़बूती से खूंटे में बांध दिया है, फ़सल काट ली है। अब बाढ़ का कोई डर नहीं बचा है। आराम से चाहे जितना पानी बरसे। नदी देवी दर्शन देकर चली जाएगी। इसके बाद भगवान बुद्ध ग्वाले से कह रहे हैं कि मैंने तृष्णा की नावों को खोल दिया है। अब मुझे बाढ़ का कोई डर नहीं है। युगपुरुष साधारण ग्वाले की झोपड़ी में नदी किनारे रात बिताएंगे। उस नदी के किनारे, जिसमें रात को कभी भी बाढ़ आ जाएगी। पर दोनों निश्चिंत हैं। आज क्या ऐसा संवाद बाढ़ से ठीक पहले हो पाएगा?

ये सारी चीज़ें हमें बताती हैं कि लोग इस पानी से, इस बाढ़ से खेलना जानते थे। यहां का समाज इस बाढ़ में तैरना जानता था। इस बाढ़ में तरना भी जानता है। इस पूरे इलाक़े में हृद और चौरा या चौर दो शब्द बड़े तालाबों के लिए हैं। इस इलाक़े में पुराने और बड़े तालाबों का वर्णन ख़ूब मिलता है। दरभंगा का एक तालाब इतना बड़ा था कि उसका वर्णन करने वाले उसे अतिशयोक्ति तक ले गए। उसे बनाने वाले लोगों ने अगस्त्य मुनि तक को चुनौती दी कि तुमने समुद्र का पानी पीकर उसे सुखा दिया था, अब हमारे इस तालाब को पीकर सुखा दो तब जानें। वैसे समुद्र जितना बड़ा कुछ भी न होगा—यह वहां के लोगों को भी पता था। पर यह खेल है कि हम इतना बड़ा तालाब बनाना जानते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी तक वहां के बड़े-बड़े तालाबों के बड़े-बड़े क़िस्से चलते थे। चौर में भी बाढ़ का अतिरिक्त पानी रोक लिया जाता था। परिहारपुर, भरवारा और आलापुर आदि क्षेत्रों में दो-तीन मील लंबे-चौड़े तालाब थे। धीरे-धीरे बाद के नियोजकों के मन में यह आया कि इतनी जलराशि से भरे बड़े-बड़े तालाब बेकार की जगह घेरते हैं-इनका पानी सुखा कर ज़मीन लोगों को खेती के लिए उपलब्ध करा दें। इस तरह हमने दो-चार खेत ज़रूर बढ़ा लिए, लेकिन दूसरी तरफ़ शायद सौ-दो-सौ खेत हमने बाढ़ को भेंट चढ़ा दिए। ये बड़े-बड़े तालाब वहां बाढ़ का पानी रोकने का काम करते थे।

आज अंग्रेज़ी में रेन वॉटर हारवेस्टिंग शब्द है। इस तरह का पूरा ढांचा उत्तर बिहार के लोगों ने बनाया था—वह 'फ़्लड वॉटर हारवेस्टिंग सिस्टम' था। उसी से उन्होंने यह खेल खेला था। तब भी बाढ़ आती थी, लेकिन वे बाढ़ की मार को कम-से-कम करना जानते थे। तालाब का एक विशेषण यहां मिलता है—नदिया ताल। मतलब है—वह वर्षा के पानी से नहीं, बल्कि नदी के पानी से भरता था। पूरे देश में वर्षा के पानी से भरने वाले तालाब मिलेंगे। लेकिन यहां हिमालय से उतरने वाली नदियां इतना अधिक पानी लेकर आती हैं कि नदी से भरने वाला तालाब बनाना ज़्यादा व्यावहारिक होता था। नदी का पानी धीरे-धीरे कहीं-न-कहीं रोकते-रोकते उसकी मारक क्षमता को उपकार में बदलते-बदलते आगे गंगा में मिलाया जाता था।

आज के नए लोग मानते हैं कि समाज अनपढ़ है, पिछड़ा है। नए लोग ऐसे दंभी है। उत्तर बिहार से निकलने वाली बाढ़ पश्चिम बंगाल होते हुए बांग्लादेश में जाती है। एक मोटा अंदाज़ा है कि बांग्लादेश में कुल जो जलराशि इकट्ठी होती है उसका केवल दस प्रतिशत उसे बादलों से मिलता है। नब्बे फ़ीसदी उसे बिहार, नेपाल और दूसरी तरफ़ से आने वाली

नदियों से मिलता है। वहां तीन बड़ी नदियां—गंगा, मेघना और ब्रह्मपुत्र हैं। ये तीनों नदियां नब्बे फ़ीसदी पानी उस देश में लेकर आती हैं और कुल दस फ़ीसदी वर्षा से मिलता है। बांग्लादेश का समाज सदियों से इन नदियों के किनारे, इनके संगम के किनारे रहना जानता था। वहां नदी अनेक मीलों फैल जाती है। हमारी जैसी नदियां नहीं होतीं कि एक तट से दूसरा तट दिखाई दे। वहां की नदियां क्षितिज तक चली जाती हैं। उन नदियों के किनारे भी वह न सिर्फ़ बाढ़ से खेलना जानता था, बल्कि उसे अपने लिए उपकारी भी बनाना जानता था। इसी में से अपनी अच्छी फ़सल निकालता था, आगे का जीवन चलाता था और इसीलिए सोनार बांग्ला कहलाता था।

लेकिन धीरे-धीरे चार कोसी झाड़ी गई। ह्रद और चौर चले गए। कम हिस्से में अच्छी खेती करते थे, उसको लालच में थोड़े बड़े हिस्से में फैला कर देखने की कोशिश की। और हम अब बाढ़ में डूब जाते हैं। बस्तियां कहां बनेंगी, कहां नहीं बनेंगी इसके लिए बहुत अनुशासन होता था। चौर के क्षेत्र में केवल खेती होगी, बस्ती नहीं बसेगी—ऐसे नियम टूट चुके हैं तो फिर बाढ़ भी नियम तोड़ने लगी है। उसे भी धीरे-धीरे भूल कर चाहे आबादी का दबाव कहिए या अन्य अनियंत्रित विकास के कारण—अब हम नदियों के बाढ़ के रास्ते में सामान रखने लगे हैं, अपने घर बनाने लगे हैं। इसलिए नदियों का दोष नहीं है। अगर हमारी पहली मंज़िल तक पानी भरता है तो इसका एक बड़ा कारण उसके रास्ते में विकास करना है।

एक और बहुत बड़ी चीज़ पिछले दो-एक सौ साल में हुई है। वे हैं-तटबंध और बांध। छोटे से लेकर बड़े बांध इस इलाक़े में बनाए गए हैं बग़ैर इन नदियों का स्वभाव समझे। नदियों की धारा इधर से उधर न भटके—यह मान कर हमने एक नए भटकाव के विकास की योजना अपनाई है। उसको तटबंध कहते हैं। ये बांग्लादेश में भी बने हैं और इनकी

लंबाई सैकड़ों मील तक जाती है। और उसके बाद आज पता चलता है कि इनसे बाढ़ रुकने के बजाय बढ़ी है, नुक़सान ही ज़्यादा हुआ है। अभी तो कहीं-कहीं ये एकमात्र उपकार यह करते हैं कि एक बड़े इलाक़े की आबादी जब डूब से प्रभावित होती है, बाढ़ से प्रभावित होती है तो लोग इन तटबंधों पर ही शरण लेने आ जाते हैं। जो बाढ़ से बचाने वाली योजना थी वह केवल शरणस्थली में बदल गई है। इन सब चीजों के बारे में सोचना चाहिए। बहुत पहले से लोग कह रहे हैं कि तटबंध व्यावहारिक नहीं हैं। लेकिन हमने देखा है कि पिछले डेढ़ सौ-दौ सौ साल में हम लोगों ने तटबंधों के सिवाय और किसी चीज़ में पैसा नहीं लगाया है, ध्यान नहीं लगाया है।

बाढ़ अगले साल भी आएगी। यह अतिथि नहीं है। इसकी तिथियां तय हैं और हमारा समाज इससे खेलना जानता था। लेकिन अब हम जैसे-जैसे ज़्यादा विकसित होते जा रहे हैं इसकी तिथियां और इसका स्वभाव भूल रहे हैं। इस साल कहा जाता है कि बाढ़ राहत में खाना बांटने में, खाने के पैकेट गिराने में हेलीकॉप्टर का जो इस्तेमाल किया गया, उसमें चौबीस करोड़ रुपए का ख़र्च आया था। शायद इस लागत से सिर्फ़ दो करोड़ रुपए की रोटी-सब्जी बांटी गई थी। ज़्यादा अच्छा होता कि इस इलाक़े में चौबीस करोड़ के हेलीकॉप्टर के बदले हम कम-से-कम बीस हज़ार नावें तैयार रखते और मछुआरे, नाविकों, मल्लाहों को सम्मान के साथ इस काम में लगाते। यह नदियों की गोदी में पला-बढ़ा समाज है। इसे बाढ़ भयानक नहीं दिखती। अपने घर की, परिवार की सदस्य की तरह दिखती है—उसके हाथ में हमने बीस हज़ार नावें छोड़ी होतीं। इस साल नहीं छोड़ी गईं तो अगले साल इस तरह की योजना बन सकती है। नावें तैयार रखी जाएं—उनके नाविक तैयार हों, उनका रजिस्टर तैयार हो, जो वहां के ज़िलाधिकारी या इलाक़े की किसी

प्रमुख संस्था या संगठन के पास हो, उसमें कितनी राहत की सामग्री कहां-कहां से रखी जाएगी यह सब तय हो। और हरेक नाव को निश्चित गांवों की संख्या दी जाए। डूब के प्रभाव को देखते हुए, पुराने अनुभव को देखते हुए उनको सबसे पहले कहां-कहां अनाज या बना-बनाया खाना पहुंचाना है इसकी तैयारी हो। तब हम पाएंगे कि चौबीस करोड़ के हेलीकॉप्टर के बदले शायद यह काम एक या दो करोड़ में कर सकेंगे और इस राशि की एक-एक पाई उन लोगों तक जाएगी जिन तक बाढ़ के दिनों में उसे जाना चाहिए।

बाढ़ आज से नहीं आ रही है। अगर आप बहुत पहले का साहित्य न भी देखें तो देश के पहले राष्ट्रपति राजेंद्र बाबू की आत्मकथा में देखेंगे तो उसमें छपरा की भयानक बाढ़ का उल्लेख मिलेगा। उस समय कहा जाता है कि एक ही घंटे में छत्तीस इंच वर्षा हुई थी और पूरा छपरा जिला पानी में डूब गया था। तब भी राहत का काम हुआ और तब पार्टी के कार्यकर्ताओं ने सरकार से आगे बढ़ कर काम किया था। उस समय भी आरोप लगे थे कि प्रशासन ने इसमें कोई ख़ास मदद नहीं दी। आज भी ऐसे आरोप लगते हैं, ऐसी ही बाढ़ आती है। तो चित्र बदलेगा नहीं। बड़े नेताओं की आत्मकथाओं में इसी तरह की लाइनें लिखी जाएंगी और अख़बारों में भी इसी तरह की चीज़ें छपेंगी। लेकिन हमें कुछ विशेष करके दिखाना है तो हम लोगों को नेपाल, बिहार, बंगाल और बांग्लादेश—सभी को मिल कर बात करनी होगी। पुरानी स्मृतियों में बाढ़ से निपटने के क्या तरीक़े थे उनका फिर से आदान-प्रदान करना होगा। उन्हें समझना होगा और उन्हें नई व्यवस्था में हम किस तरह से ज्यों-का-त्यों या कुछ सुधार कर अपना सकते हैं इस पर ध्यान देना होगा।

जब शुरू-शुरू में अंग्रेज़ों ने इस इलाक़े में नहरों का, पानी का काम किया, तटबंधों का काम किया तब भी उनके बीच में एक-दो ऐसे सहृदय समझदार और यहां की मिट्टी को जानने-समझने वाले अधिकारी रहे जिन्होंने ऐसा माना था कि जो कुछ किया गया है उससे यह इलाक़ा सुधरने के बदले और अधिक बिगड़ा है। इस तरह की चीज़ें हमारे पुराने दस्तावेज़ों में हैं। इन सबको एक साथ समझना-बूझना चाहिए और इसमें से फिर कोई रास्ता निकालना चाहिए। नहीं तो उत्तर बिहार की बाढ़ का प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। हम उसका उत्तर नहीं खोज पाएंगे।

नर्मदा घाटी: सचमुच कुछ घटिया विचार

हत्या से कुछ दिन पहले नर्मदा सागर बांध का शिलान्यास करते हुए श्रीमती इंदिरा गांधी ने कहा था कि वे इन बड़े बांधों के पक्ष में नहीं हैं पर विशेषज्ञ उन्हें बताते हैं कि इनके बिना काम चलेगा नहीं। लेकिन अब कुछ विशेषज्ञ ही नेताओं, अख़बारों और लोगों को बताने लगे हैं कि इन बड़े बांधों के बिना काम ज़्यादा अच्छा चलेगा। मध्यप्रदेश शासन में सिंचाई सचिव रह चुके एक प्रशासक ने पिछले दिनों प्रधानमंत्री को एक पत्र लिखकर नर्मदा घाटी में बन रहे बड़े बांधों—सरदार सरोवर (गुजरात) और नर्मदा सागर (मध्यप्रदेश) की ओछी योजनाओं का ब्योरा दिया है और बताया है कि इन बांधों से होने वाले लाभ का जो दावा किया है वह पूरा होगा नहीं, इनके कारण उजड़ने वाले लोगों से जो वादा किया है वह निभाया नहीं जा सकेगा और कुल मिलाकर नुक़सान इतना ज़्यादा होगा कि 21वीं सदी के विकास के लिए तैयार की जा रही नर्मदा घाटी कहीं बीस हज़ार साल पीछे न ठेल दी जाए।

गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और एक हद तक राजस्थान के विकास के लिए बन रहे ये भीमकाय बांध एक क़िस्म से अश्वमेध यज्ञ के घोड़े हैं। इनकी लगाम छूने तक का दुस्साहस किसी ने किया नहीं था। लेकिन यज्ञ को लेकर तीनों राज्यों के नेताओं और विशेषज्ञों में भारी मतभेद थे:

इस बहस में कौन कितनी आहुति देगा और उसके लाभ का बंटवारा किस अनुपात में मिलेगा, 33 बरस बीत गए। सन् 1946 में शुरू हुई बहस में तीनों राज्यों के नेताओं और विशेषज्ञों की दो पीढ़ियां बदल गईं पर प्रकृति को आर्थिक तराज़ू पर नक़ली बांट रख कर तौलने की नज़र नहीं बदली। इनकी तीसरी पीढ़ी को भी यही लगता रहा कि कमबख़्त नर्मदा हमसे बिना पूछे 3454 अरब घन मीटर पानी खंबात की खाड़ी में बहा ले जा रही है। इस पर बड़े-बड़े बांध बना लें तो 2500 से 3300 मेगावाट बिजली मिल जाएगी और कोई 23 लाख हैक्टेयर में सिंचाई हो जाएगी। लेकिन इतने लाभकारी यज्ञ की क़ीमत बहुत थी। यहां डूबने वाली क़ीमती सवा लाख हेक्टेयर ज़मीन और वन तथा कोई डेढ़ लाख लोगों की बात नहीं हो रही। क़ीमत यानी वह रुपया जो इस सपने को आकार देता। उन दिनों के सस्ते ज़माने में भी यह क़ीमत 600 से 1000 करोड़ रुपया थी जो आज शायद 3800 करोड़ रुपए के आसपास झूल रही है। झगड़ रहे तीनों राज्यों में से किसी की भी जेब में इतना रुपया नहीं था कि वे अपने दम पर या केंद्र की मदद से ये बांध बना पाते। बहुत कम लोगों को याद होगा कि 1967 में मध्यप्रदेश के 31 संसद सदस्यों ने इंदिरा गांधी से नर्मदा घाटी योजना को भारत-सोवियत व्यापार में शामिल करने का आग्रह किया था।

सबसे विवादास्पद बांध सरदार सरोवर (गुजरात) को लेकर सन् 67 से 1974 तक मध्यप्रदेश और गुजरात सरकार के बीच जो ऊलजलूल बयानबाज़ी और झगड़े हुए वे अपने आप में एक छोटे-मोटे महाभारत की याद दिलाते हैं। 1969 में मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्यामाचरण शुक्ल ने ज़ोर-शोर से कहा था कि गुजरात में नर्मदा पर बनने वाले बांध से मध्यप्रदेश की एक इंच ज़मीन भी डूब में नहीं आएगी। (बाद में यह आंकड़ा एक इंच से बढ़कर 27 हज़ार एकड़ उम्दा कृषि में बदला गया)

इसी दौरान गुजरात और मध्यप्रदेश में अपने-अपने बांधों की ऊंचाई बढ़ाकर अधिक बिजली बना लेने की जैसे होड़ लग गई। केवल बिजली का बहाना थोड़ा शर्मनाक लग सकता था इसलिए दोनों राज्यों ने अपने-अपने किसानों के 'हितों' को भी बढ़ाना शुरू कर दिया। पर इन दोनों बांधों की ऊंचाई जितनी बढ़ती उतनी अधिक क़ीमती ज़मीन और वन भी उनकी डूब में आते इसलिए बांधों की ऊंचाई का सारा विवाद नीचता की हद तक उतरता गया। लगता है कुछ पुण्याई कमाने के ख़्याल से ही उस समय यह भी जोड़ दिया गया कि अगर बांध ऊंचा बना तो उसमें एक लंबी नहर निकाल कर राजस्थान जैसे 'प्यासे' राज्य को भी कुछ पानी दे दिया जाएगा।

तीन राज्यों के मुख्यमंत्री और उनके अधिकारी व इंजीनियर आख़िर कब तक झगड़ते। सन् 73 में सारा विवाद इंदिरा गांधी को सौंपा गया। वे हाथ जो इस देश की सारी समस्याओं का हल खोजने के लिए लगातार मज़बूत किए जाते रहे, नर्मदा के मामले में बेहद कमज़ोर साबित हुए। इंदिरा गांधी हल नहीं खोज सकीं तो उन्होंने इस विवाद को सन् 74 में एक पंचाट को सौंप दिया। यहां कुछ पुरानी बातें एक बार फिर दोहरा लें। 74 से बहुत दूर नहीं था सन् 75 की जून में लगा आपातकाल। सारे झगड़े समाप्त हो गए। पंचाट चुपचाप काम करती रही।

आपातकाल हटा और केंद्र तथा इन राज्यों में आई जनता पार्टी सरकार। और कुछ ही समय बाद सन् 79 में पंचाट ने अपना फ़ैसला दिया। सबसे विवादास्पद बांध सरदार सरोवर की ऊंचाई उसने 455 फ़ुट तय की। तब मध्यप्रदेश में विपक्ष की बेंच पर बैठी इंदिरा कांग्रेस उछलकर इन बांधों पर टूट पड़ी। पूरे फ़ैसले को राज्य के लिए अभिशाप बताया गया। पर जनता सरकार चली ही कितने दिन। 80 में वापस शासन में

आते ही इंदिरा सरकार ने अब तक के अभिशाप को वरदान की तरह स्वीकार किया और पंचाट के जो पंच उसे विपक्ष की कुर्सी से कपटी दिख रहे थे, वे फिर परमेश्वर दिखने लगे।

अब इसे भगवान की ही कृपा मानना होगा कि सन् 80 से अब तक नर्मदा-विवाद के राज्यों में और केंद्र में इंदिरा कांग्रेस है, और साथ ही यह भी कि इन सभी जगहों में विरोधी दल बेहद सिकुड़ा हुआ है तथा सबसे बड़े महाजन विश्व बैंक ने इसके लिए पैसा देना मंजूर किया है।

तीन राज्यों से गुज़रने वाली 1312 किलोमीटर लंबी नर्मदा नदी की घाटी के 'पिछड़ेपन' को दूर करने के लिए कुछ उच्च विचार हों, इन्हें अमल में उतारने की महंगी योजनाओं का ख़र्च जुटाने के लिए विश्व बैंक जैसा उदार महाजन हो, सारे 'टुच्चे' विवादों को निपटा चुका पंच परमेश्वर हो तो भला देरी किस बात की? भीमकाय बांधों को बांधने के लिए टेंडर खुल चुके हैं।

लेकिन इस बीच कुछ 'घटिया विचार' भी सामने आने लगे हैं। बहस चल पड़ी है, इन बड़े बांधों के नुक़सानों, पर्यावरण पर इनके असर और इनसे उजड़ने वाले हज़ारों लोगों के भविष्य को लेकर। अब तक एक सांस में गिनाए जाते रहे इनके लाभों पर भी कई विशेषज्ञों ने, संस्थाओं ने प्रश्न चिह्न लगाना शुरू कर दिया है। पंचाट के फ़ैसले के तुरंत बाद पहले कांग्रेस और फिर भाजपा द्वारा चलाए गए 'निमाड़ बचाओ आंदोलन' के क्षणिक उफान का अपवाद छोड़ दें तो सन् 80 से 85 तक नर्मदा घाटी में छाया सन्नाटा लगता है टूट रहा है। मध्यप्रदेश के जो अख़बार पंचाट के फ़ैसले के बाद बेहद कट्टर बनकर इन बड़े बांधों को पूरा समर्थन कर रहे थे और जिस कारण उनकी प्रतियां, इन बांधों की डूब में आने वाले, क़स्बों, गांवों में जलाई गई थीं वे अख़बार आज कह रहे हैं कि पंचाट के फ़ैसले में इन बांधों के पक्ष में कई मुद्दों पर सविस्तार

स्पष्ट मत व्यक्त किए गए थे, लेकिन पर्यावरण का जो नया आयाम पिछले वर्षों में सामने आया है वह इस बात की मांग करता है कि इन ऊंचे बांधों की फिर से समीक्षा हो।

पर क्या पर्यावरण का मुद्दा सचमुच कोई नया आयाम है? जिस सर्वगुण संपन्न पंचाट में पानी, नदी, मिट्टी, सिंचाई, फ़सलें, बिजली, भूगर्भ, भूकंप, भूजल के सैकड़ों विशेषज्ञ थे, दोनों राज्यों की जनता के प्रतिनिधि नेता थे, योजना वाले जानकार थे, जिसके सामने तब तक देश की दूसरी नदियों पर बन चुके बांधों के गुणों अवगुणों का पूरा लेखा-जोखा था—उसे इस पर्यावरण नाम की चिड़िया का अता-पता न होना बड़ी अटपटी बात है।

ख़ैर, कोई बात नहीं। पिछले वर्षों में कई तरह की बदनाम योजनाओं का ब्याज ढो रहे विश्व बैंक ने अपना पल्ला बचाने के लिए ऐसी तमाम योजनाओं को पैसा देने में पहले पर्यावरण की सुरक्षा का डिठोना लगाना ज़रूरी समझा। पैसा पाने के लिए आतुर सरकारों को भी मज़बूरी में यह करना पड़ा। नर्मदा के बड़े बांधों को लेकर इसलिए राज्य सरकारों ने नवंबर 84 में 'पर्यावरण जांच समिति' बनाई। पहली बैठक थी दिसंबर 84 की तीन तारीख़ को। पर्यावरण का सबक सीखने के लिए इससे भयानक कोई और दिन न उगे। भोपाल उसी रात विकास की भारी क़ीमत अदा कर चुका था। यूनियन कार्बाइड भी नर्मदा के बांधों की तरह ग़रीब और पिछड़े माने गए प्रदेश के लिए आधुनिक खेती का महान विचार लेकर आया था। ऐसे विचारों के बीच 'घटिया' विचारों की जगह भोपाल में भी नहीं बन पाई थी। नर्मदा घाटी तो फिर भी वहां से काफ़ी दूर थी।

नर्मदा घाटी को आधुनिक ढंग से विकसित करने के उच्च विचारों के बीच कुछ 'घटिया' विचार सन् 83 में उभरने लगे थे। दिल्ली की संस्था कल्पवृक्ष के दस छात्रों ने जुलाई-अगस्त में पूरी घाटी का दौरा किया और

44 पन्नों की एक रपट बना कर पूछा था कि इतने बड़े बांधों की ये योजनाएं विकास के लिए हैं या विनाश के लिए। अब तक चित्रित किया जा रहा लाभ रपट के मुताबिक कोई शुभ संकेत नहीं देता था और स्वीकार की गई कुछ हानियां मात्रा में बहुत ज़्यादा हो सकती थीं और निश्चित ही अशुभ संकेत देती थीं। फिर मई 85 में लंदन की एक संस्था 'सर्वाइवल इंटरनेशनल' ने गुजरात में बन रहे सरदार सरोवर की डूब में आने वाले आदिवासियों का पक्ष रखते हुए विश्व बैंक को याद दिलाया कि आदिवासियों के पुनर्वास में बरती जा रही उपेक्षा बैंक की अपनी आचार संहिता के विरुद्ध जा रही है। फ़िलहाल कमज़ोर नायक के बदले बलवान खलनायक की आचार संहिता की याद दिलाना शायद ज़्यादा व्यावहारिक था।

फिर नर्मदा घाटी के विकास से जुड़े सबसे बड़े अधिकारी नर्मदा प्लानिंग एजेंसी के अध्यक्ष सुशीलचंद्र वर्मा ने देश में पहली बार उन सब बातों को सार्वजनिक बनाया जो अब तक बने हर बांध में वहां के लोगों पर क़हर ढाती हैं : जान बूझ कर ठीक से सर्वे नहीं होता, बांध के सरोवर में डूबने वाले इलाक़ों की ईमानदारी के साथ जानकारी नहीं दी जाती, पूरी कोशिश की जाती है कि मुआवज़े के मामले में सरकारें सस्ते में निपट जाएं आदि। वर्मा ने खुद बहुत दुख के साथ कहा कि नब्बे साल पहले सन् 1894 में अंग्रेज़ों द्वारा बनाया गया भू-अर्जन (भूमि अधिग्रहण) क़ानून ऐसी तमाम योजनाओं में लोगों को लूट कर अपना ख़ज़ाना भरने के लिए था। आज़ादी के बाद भी इस क़ानून में जो कुछ सुधार हुआ वह सब सरकार के पक्ष में ही था, लोगों के पक्ष में नहीं। वर्मा ने पहली बार सरकारी तौर पर स्वीकार किया कि उत्तर में भाखड़ा से लेकर दक्षिण में बने श्रीशैलम और पोलावरम बांधों से बेघर-बार हुए लोग आज भी दर-दर भटक रहे हैं। इन बांधों का लाभ

उठाने वाली सरकारें और लोग इन योजनाओं में डूब गए लोगों की शहादत को भूल चुके हैं। ऐसी योजनाओं में कई परिवारों को ठगा गया और वे हमेशा के लिए बर्बाद हो गए। इन पर अनगिनत ज़ुल्म किए गए जो अब रोशनी में आ रहे हैं। वर्मा जी के इन लेखों को पढ़ने से जो यही लगता है कि अब तक बांध सीमेंट कंक्रीट पर नहीं, अन्याय की नींव पर बांधे गए हैं। उनका कहना है कि "यह परंपरा ब्रिटिश काल से चली आ रही है। ज़ाहिर है कि जिस ग़ैर ज़िम्मेदारी से इन मसलों की तरफ़ देखा जाता था, जनता अब उसे बर्दाश्त नहीं करेगी।" उनके मुंह में घी शक्कर!

डूबने वालों के लिए इतनी संवेदना रखने वाले वर्मा जैसे अधिकारियों के रहते हुए भी नर्मदा घाटी में बंधने जा रहे बांधों में ऐसा कुछ नया नहीं होता दिखता कि ये बांध अन्याय की नींव पर नहीं, केवल सीमेंट की नींव पर खड़े हो सकेंगे। इधर पिछले दिनों ऐसे भी संकेत आने लगे हैं कि नुक़सान पाने वाले लोग और इलाक़ों की तो छोड़िए, लाभ पाने वाले क्षेत्र भी परेशानी में पड़ सकते हैं। बंगलौर के इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ साइंस की एक रपट का कहना है कि मध्यप्रदेश में इन बांधों से सिंचित होने वाले क्षेत्र का 40 प्रतिशत भाग (लगभग एक लाख हेक्टेयर) दलदल में भी बदल सकता है। अध्ययन दल ने इस ख़तरे को रोकने के भी कुछ उपाय ज़रूर बताए हैं। इस रपट पर काफ़ी हल्ला मचा है। लेकिन सरकार का कहना है कि इससे घबराने की कोई बात नहीं क्योंकि वह अध्ययन तो खुद सरकार ने बंगलौर को सौंपा था। लगभग यही तर्क विश्व बैंक का है। वह भी कहता है कि पर्यावरण पर लड़ने वाले प्रभावों का यह अध्ययन उसकी शर्त का एक हिस्सा था। इससे चौंकने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन अध्ययन की पहल का श्रेय ले लेने से उसमें छिपे नुक़सान के ख़तरे को टाला नहीं जा सकता।

नर्मदा के पानी को लेकर झगड़ते रहे राज्यों को अब यह भी मालूम पड़ गया होगा कि नदी में उतना पानी नहीं बचा है जितने को ध्यान में रख कर ये सारी योजनाएं बनाई गई हैं। अनुमानित 280 लाख एकड़ फ़ुट के बदले पिछले कुछ वर्षों का औसत 230 लाख एकड़ फ़ुट है। पानी की कमी के कारण ऊंचे बांध रीते रह जाएंगे। नदी के पनढाल (जलागम) क्षेत्रों में एक तो बड़े बांधों के कारण पश्चिमी मध्यप्रदेश का कोई 43,064 हेक्टेयर वन डूबेगा और बचा हुआ पनढाल इतनी बुरी तरह से नंगा किया जा चुका है कि यह अब बांधों में गाद भरने का ही काम करेगा। यों केंद्र सरकार ने विश्व-खाद्य संगठन से आए एम एल दीवान की अध्यक्षता में इन बांधों को ध्यान में रख कर नर्मदा के पनढाल का सर्वे और उसे भूक्षरण से बचाने, वनीकरण करने के सुझाव देने की समिति बनाई थी। समिति ने काम पूरा किया। सुझाव दिया कि यदि इन बांधों की उम्र बढ़ानी है तो बांध बनने से पहले ही पनढाल को हरा-भरा बना लेना चाहिए। ख़र्च आएगा कोई 1400 करोड़ रुपया। पर बांध वाले कहते हैं कि उनके पास इतना पैसा नहीं है। वे बांध बनाएंगे, बांध की सेहत का ख़्याल कोई और रखे। कुल मिलाकर होगा यही कि इसका ख़्याल कोई नहीं रखेगा और बांध बन जाएंगे। तब बरसात के दिनों में बाढ़ आएगी और अपने साथ मिट्टी बहाकर इन बांधों को भेंट करेगी। धीरे-धीरे इससे उस बिजली पर भी असर पड़ेगा जिसे बनाने के लिए यह सारा तमाशा खड़ा किया जा रहा है। लेकिन बांध वाले कोई ख़तरा नहीं मानते। अब तक बनाए गए सभी बांधों में साद भरी है, उनकी अनुमानित उम्र घटी है और इसलिए बांध बनाने वाले कम उम्र के बांधों के इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि चिरंजीव शब्द उन्हें पुसाता नहीं।

कुछ लोगों की राय है कि इन बांधों की कमज़ोरियां या कमियों का हल होगा, जवाब होगा। फ़िलहाल उन बातों को सामने रखना चाहिए जिन्हें उन्होंने अनदेखा किया है। लेकिन आज सिंचाई विभाग अपनी ग़लतियों

के बारे में कैसे सोचता है इसका एक उदाहरण है गुजरात में टूटा मोरवी बांध। विभाग के कुछ लोग आज भी पूरी ईमानदारी से मानते हैं कि मोरवी बांध तकनीक या प्रबंध की ग़लतियों के कारण नहीं, षड्यंत्र के कारण टूटा था। षड्यंत्र भी मामूली नहीं। अमेरिका ने अपने एक उपग्रह से संकेत भेज कर इस पर निशाना साधा था! लेकिन हमारी सरकार ने इस पर ज़ोरदार विरोध क्यों नहीं प्रकट किया? जवाब है कि पर्याप्त प्रमाण नहीं जुटाए जा सके थे। अगर यह सही है तो फिर पूछना चाहिए कि नर्मदा पर मोरवी से सौ गुने बड़े बांध क्यों बना रहे हो। क्या हमने अपनी राजनैतिक हैसियत इतनी मज़बूत कर ली है कि क़ोई देश अपने उपग्रहों से हमारे साथ फिर ऐसा खिलवाड़ नहीं कर पाएगा?

ख़ैर ग़लतियों की बात छोड़ें, अनदेखी को देखें। अनदेखी की सूची तो बहुत लंबी है। सबसे भयानक समस्या होगी उनाव की। यह शब्द अभी ज़्यादा नहीं चला है क्योंकि यह समस्या भी अभी उतनी नहीं उठी थी। उनाव यानी बाढ़ के समय पीछे पलट कर लगातार उठने वाला जलस्तर। उसे बांध वाले 'बैक वॉटर' कहते हैं। बड़े बांधों के कारण नदी का जलस्तर काफ़ी ऊपर उठ जाएगा। तब जब भी बाढ़ आएगी, पूर में बह रही नर्मदा में जो असंख्य सहायक नदियां और नाले मिलेंगे उन सबमें पानी का स्तर मुख्य धारा के बढ़ते जलस्तर के कारण लगातार अपने किनारे तोड़ कर आसपास के खेत, घर, रास्तों को अपने में लपेटेगा। अभी तक बांध वालों ने केवल मुख्य धारा के उनाव का थोड़ा बहुत अध्ययन किया है। पर सभी जानते हैं कि नर्मदा घाटी दोनों तरफ़ पहाड़ों से घिरी एक संकरी घाटी है। इसमें क़दम-क़दम पर मिलने वाली सहायक नदियों के उनाव की कल्पना करते हुए भी डर लगता है।

दूसरी अनदेखी है इन भीमकाय बांधों के सरोवरों से इस क्षेत्र में भूकंप आने की आशंकाएं। कुछ लोगों ने पिछले दिनों कोयना बांध के भूकंप को उसके जलाशय के दाब से जोड़ा है। ज्यों-ज्यों सरोवर में

जलस्तर बढ़ता जाता है भूकंप की परिस्थितियां बनने लगती थीं। उसका पानी छोड़ते जाने से ये संभावनाएं भी कम होने लगती हैं। नर्मदा घाटी में खरगोन के पास सेंधवा में पिछले 137 वर्ष में पांच बार भूकंप आया है। कहा जा सकता है कि बांधों को भूकंप सहने लायक़ मज़बूत बनाया जा रहा है पर आसपास की बस्तियों का क्या होगा?

बिजली के पीछे जा रहे योजनाकारों को अब यह भी पता चल गया होगा कि नर्मदा घाटी में तेल की भी गुंजाइश है। तेल कम निकलेगा या ज़्यादा, यह अभी तक तय नहीं हो पाया है। तेल और प्राकृतिक गैस आयोग ने जो कुछ यहां देखा-परखा है उस आधार पर कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र बंबई से ईरान जा रही एक तेल पट्टी की पीठ है। इसे बांधों में डुबोने से पहले यह तो जांच लें कि हम खोने क्या-क्या जा रहे हैं।

हम क्या-क्या खो रहे हैं यह जानना ज़रूरी है क्योंकि 21वीं सदी आख़री मंज़िल नहीं है। वह एक पड़ाव भर होगी। 22वीं सदी भी आएगी, 23 भी और उसके आगे भी सूरज उगेगा और डूबेगा। तब भी मालवा, निमाड़, मध्यप्रदेश, गुजरात और देश को विकास करना होगा। इसलिए मेहरबानी करके विकास के (अगर यह सचमुच विकास है तो) सारे माध्यमों पर इन्हीं 15-20 सालों में क़ब्ज़ा मत कीजिए। नर्मदा पर बांधों की कुछ दर्जन भर जगहें अगली पीढ़ी के लिए भी सुरक्षित छोड़ दें। ऐसी क्या हाय तौबा है कि 80 बड़े 300 मंझोले और 3000 छोटे बांध बना लेने की सारी ज़िम्मेदारी इसी पीढ़ी के नाज़ुक कंधों पर आ गई है? सारा जंगल यही पीढ़ी काट ले, डुबो दे, भूमि का सारा उपजाऊपन यही पीढ़ी खींच ले!

पिछली पीढ़ियां इस पीढ़ी के लिए यह सब छोड़ती आई हैं। ऐसा नहीं था कि ये इनमें से ज़्यादातर काम कर ही नहीं सकती थीं इसलिए उन्होंने

किए नहीं। नर्मदा के किनारे कोटेश्वर के पास बावनगजा तीर्थ है। जो लोग आज से 2031 साल पहले पत्थर की बावन गज़ यानी 156 फ़ुट ऊंची मूर्ति बना सके वे यहां की प्रकृति को पहले विकास के लिए डुबो भी सकते थे। कोई 7000 साल पहले मालवा के पठार में आकर बसे लोगों ने त्रिपुरी, महिष्मती जैसे शक्तिशाली राज्यों की नींव रखी थी। चिकल्दा, झाकड़ा, खेड़, पिपल्दा आदि उनके केंद्र थे। चेटियों गोंड और हैहय वंशों ने नर्मदा के सुवर्ण कछार की समृद्धि से अपने राज्य मज़बूत किए। जिस खंबात की खाड़ी में आज नर्मदा अपना 'सारा जल बर्बाद' कर रही है वही खंबात उस दौर में हमारा सबसे पुराना और विकसित बंदरगाह था। वहां से अरब, इज़राइल और अफ़्रीका के साथ व्यापार होता था।

आज नर्मदा घाटी का इलाक़ा पिछड़ा बता दिया गया है। इसका पिछड़ापन दूर करने के लिए ये बांध कल्याणकारी यज्ञ की तरह प्रचारित किए जा रहे हैं। इन यज्ञों के लिए आहुति चाहिए। ऐसे लोगों की पहले भी कमी नहीं थी जो अपने क्षेत्र की उन्नति के लिए बलिदान हो जाते थे। नर्मदा के बहुत से इलाक़ों में आज भी 'गाता' मिलेंगे। सिल के आकार के पत्थरों पर उकेरी हुई ये मूर्तियां उन शहीदों की स्मृति के लिए हैं जो अपनी और अपने समाज की शान, आन के लिए मर मिटे। आज भी 'गाता' के पास मेले लगते हैं और हाट सजते हैं। लेकिन नर्मदा के बांधों में शहीद होने वालों की 'गाता' नहीं बनेगी। विस्थापितों के साथ जो अन्याय की परंपरा अंग्रेज़ों के ज़माने से कल तक जारी थी उसे एक अकेले सुशील चंद्र वर्मा कितना बदल पाएंगे? विस्थापित तो भटकेंगे ही और अगर लाभ पाने वाले लोग अनदेखी बातों के कारण उखड़ गए तो? इसलिए कल्याणकारी सरकारें यज्ञ ज़रूरी करें पर उतने ही बड़े जिनमें कोई चूक हो गई तो सिर्फ़ सरकार की उंगलियां जलें, लोग न जलें पीढ़ियां न झुलसें।

भूकंप की तर्जनी और कुम्हड़बतिया

कारण ढूंढ़ लिया गया है। उन्नीस अक्तूबर को पैंतालीस क्षणों के लिए आए भूकंप से उत्तराखंड में हुई बर्बादी का खलनायक पहचान लिया गया है। कृषि मंत्रालय ने रुड़की विश्वविद्यालय के एक बड़े वैज्ञानिक द्वारा तैयार एक रिपोर्ट जारी की है। रिपोर्ट का कहना है कि केवल छह दशमलव एक माप के 'औसत' भूकंप से अकेले उत्तरकाशी में 17000 घर पूरी तरह से नष्ट हो गए, हज़ारों में दरारें पड़ गईं और लगभग 1500 लोग और हज़ारों पशु भी मारे गए। इस भयंकर बर्बादी का विवरण देते हुए रिपोर्ट ठीक किसी स्थितप्रज्ञ की तरह बताती है:

'इतने औसत परिभार के भूकंप में इतनी अधिक हानि का मुख्य कारण है अनगढ़ पत्थर से निर्मित भवनों का ध्वस्त होना। पत्थर के भवनों में भूकंप से उत्पन्न होने वाली हानि के ये मुख्य कारण सामने आते हैं: (एक) निर्बल भवन सामग्री: हानि का सबसे बड़ा और पहला कारण यह है कि गारे में पत्थर की चिनाई उन प्रतिबलों को सहने में असमर्थ है जो भूकंप की स्थिति में दीवारों में उत्पन्न होते हैं। इस कारण से दीवारों में क्षैतिज उर्धवाधर (!) अथवा तिरछी दिशाओं में दरारें पड़ती हैं। इसका उपाय केवल यही है कि गारे के स्थान पर अच्छा मसाला प्रयोग किया जाए। (दो) दुमंजिला निर्माण: पिछले भूकंपों के अनुभवों से यह साफ़

जान लिया गया है कि एक से अधिक मंज़िल के अनगढ़ पत्थर के मकानों की पूरी तरह से ध्वस्त होने की संभावना एक मंज़िल के मकानों से कहीं अधिक रहती है। नई संरचना में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है।'

यह तो इस रिपोर्ट की पहली झलक है। ऐसी हिंदी के लिए हम पाठकों से और इस तरह की हिंदी में कही गई बातों के लिए हम उत्तराखंड के गांवों में, घरों में रहने वाले लोगों से माफ़ी मांगते हैं। रिपोर्ट बनाने वाले बहुत ही ऊंचे दर्जे के विशेषज्ञ होंगे, और निश्चित ही इसे तैयार करते समय उनके मन में पहाड़ के निवासियों के कल्याण की भावना भी रही होगी। पर बहुत विनम्रता से कहें तो भूकंप से विनाश का ऐसा कारण ढूंढ़ना लोगों का अपमान है। ऐसी बातों का अर्थ यही है कि भूकंप तो बड़ा मामूली-सा था, उसका कोई दोष नहीं। दोष तो है अनघड़ पत्थरों से बने मकानों का, या ऐसे मकान बनाने वालों का। हमारे मकान मकान न हुए कुम्हड़बतिया हो गए जो ज़रा-सी तर्जनी देख गिर पड़े।

सौभाग्य से सिर्फ़ उत्तराखंड ही नहीं, हमारा सारा देश अनगढ़, पत्थर, मिट्टी और गारे का बना है। और अपनी इस विशिष्ट बनक के कारण ही इसने भूकंप से भी बड़े-बड़े दूसरी तरह के झटके सहे हैं। लेकिन देश की बात बाद में, पहले उत्तराखंड को ही लें। इस भूकंप के बाद से सभी जगह एक नया शब्द चल निकला है: 'भूकंप सह' यानी भूकंप सहने योग्य। शब्द तो अंग्रेज़ी से ही आया है, लेकिन इसके पीछे विचार भी अंग्रेज़ों का ही है। 19 अक्तूबर के बाद कई लोगों ने, संस्थाओं ने विशेषज्ञों ने भूकंप सह मकानों की ख़ूब बात की है। दुर्भाग्य से स्वयं उत्तराखंड से भी ऐसी मांग आई है कि हमें ऐसी तकनीक दीजिए जो भूकंप सह हो।

यह शब्द और विचार दो बातें मान कर चलता है। (एक) उत्तराखंड

में जो मकान बनते हैं, उन्हें बनाने वाले अपने क्षेत्र-विशेष का स्वभाव ही नहीं जानते और (दो) देश के किसी और हिस्से में, कोने में या केंद्र में यानी दिल्ली में कुछ ऐसे जानकर लोग हैं जिनके पास यह दुर्लभ ज्ञान या यह रहस्यमय तकनीक उपलब्ध है। कितने आश्चर्य की बात है कि अगर ऐसी कोई तकनीक सचमुच उपलब्ध है, सुलभ है तो वह अब तक वहीं क्यों नहीं पहुंची, जहां उसे खड़े मिलना था, ताकि वह इस भूकंप के बाद भी वहां खड़ी नज़र आती।

तो कहां खोजें ऐसे लोगों को जो इस तकनीक को जानते हैं? पहले दुनिया का चक्कर लगा लें? नाहक यहां-वहां भटकने के बदले दुनिया में नंबर एक और नंबर दो माने गए देशों को टटोलें। अमेरिका के एक बड़े शहर में (देहात में नहीं) कुछ समय पहले भूकंप आया था। भूकंप जिसे हिलाना चाहता था उसे हिला गया; जिसमें दरार डालना चाहता था, उसमें दरार डाल गया और जिसे डिगाना चाहता था, उसे डिगा गया। डिगने वाली सूची में विश्व भर में प्रसिद्ध एक मज़बूत पुल भी था। अब नंबर दो को देखें। गोर्बाचेव अपनी लोकप्रियता की ऊंचाई पर थे कि एक भूकंप ने वहां हज़ारों मकान पटक दिए। ये मकान कोई अनघड़ पत्थरों के नहीं थे, एक सशक्त विचारधारा की सीमेंट भी इनकी नींव में मिलाई गई थी। खुलेपन का दौर था तो जांच भी बिठा दी गई। प्रारंभिक दौर में यह कहा गया था कि भूकंप इतने पक्के मकानों को नहीं गिरा सकता, हो न हो, ये मकान ही नक़ली थे। घटिया मकान किसने बनाए, दोषी कौन था, इसकी जांच का काम सीधे केजीबी को सौंपा गया था। जांच का क़िस्सा लंबा है। याद रखने लायक़ बात इतनी ही है कि अब केजीबी ही भंग हो चुकी है।

जापान के कुछ भाग भी भूकंप की पट्टी में आते हैं। यहां के बारे में हम चौथी-पांचवीं कक्षाओं में पढ़ते रहे हैं कि घर बांस और काग़ज़

के बनते थे। तब कागज़ के घर सुन कर अटपटा भी लगता था। धीरे-धीरे इन घरों में बदलाव आया। हर जगह की तरह नई चलती चीज़ों का मोह बढ़ा। सीमेंट के पक्के मकान भी बनने लगे। ऐसे ही दौर में फ़्रैंक लायड राइट नाम के एक अमेरिकी वास्तुकार को यहां एक बड़े होटल को बनाने का काम सौंपा गया। उन्होंने बनाया पक्का ही होटल पर उस क्षेत्र में आने वाले भूकंपों का पूरा ख़्याल भी रखा— उसे एक दलदली ज़मीन पर खड़ा किया गया था। राइट थे तो वास्तुकार पर कभी उन्होंने वास्तुकला की आधुनिक पढ़ाई नहीं पढ़ी थी, बाक़ायदा डिग्री भी नहीं थी उनके पास। होटल पूरा नहीं बन पाया था कि भूकंप का एक बड़ा झटका वहां आया। सारा क़स्बा ध्वस्त हुआ, पर अनबना होटल बना रहा। क़स्बे के नगरपालक की ओर से उन्हें इस संबंध में भेजा गया एक लंबा तार वास्तुकला के हर छात्र को आज भी पढ़ाया जाता है। संकट के उन दिनों में इसी होटल से राहत के काम चले थे। राइट ने कोई नई 'भूकंप-सह' तकनीक नहीं लगाई थी, वहीं के अनुभव को नींव में डाल कर होटल खड़ा किया था। उन्होंने भूकंप की इज़्ज़त करने वाला ढांचा खड़ा किया था।

वापस उत्तराखंड लौटें। सदियों से हिमालय में रहने वाले लोग अपने घर ख़ुद ही बनाते आए हैं। और ये घर जिस ढंग से बनते रहे हैं, उसी ढंग में भूकंप सहने की कुछ ताक़त भी रहती है। ये बनते 'अनगढ़' पत्थर के ही हैं पर उतने अनगढ़ नहीं जितने कि आज सरकार मान रही है। दीवारों को बनाने के लिए नदी के गोल पत्थर नहीं लिए जाते हैं। फिर पत्थरों को तीन तरह से तराशा भी जाता है, केवल वह भाग, जो दीवार के भीतर रहेगा मसाला पकड़ने के लिए बिन तराशा छोड़ा जाता है। इस तरह से बड़ी मेहनत के साथ तराशे पत्थर नींव और दीवार में लगते हैं और फिर इन पर खड़ा होता है बल्लियों और चौकोर चीरे गए लट्ठों का ढांचा। लट्ठों की चिराई बड़े-बड़े आरों से की जाती रही है। ऐसे

बड़े आरों को दो लोग चलाते थे। बाद में यह काम आरा मशीनों पर भी होने लगा। दीवारों में दरवाज़े भी छोटे, खिड़कियां भी छोटी लगती हैं। बिना झुके भीतर नहीं जा सकते इनसे। ठीक आदमक़द दरवाज़े बनाने से उन्हें किसी ने रोका नहीं है पर अनुभव से वहां यह चलन चला होगा कि छोटे दरवाज़े और खिड़कियां ठंड तो रोकते ही हैं, दीवार की मज़बूती भी बढ़ाते हैं।

सरकारी रिपोर्ट ने दो मंज़िले मकानों पर टिप्पणी करते हुए इन्हें एक मंज़िल मकानों से ज़्यादा ख़तरनाक बताया है। दो मंज़िलें मकान तो यहां ख़ूब बनते हैं। पहाड़ी ढलान पर एक के बदले दो मंज़िलें मकान बहुत ख़ूबी से बनाए जाते हैं। ढलान के ऊपरी हिस्से से इनमें सीधे, बिना सीढ़ी के दूसरे मंज़िल में प्रवेश होता है और ढलान के निचले हिस्से से पहली मंज़िल में। पहली और दूसरी मंज़िल के बीच का भाग मज़बूत लट्ठों पर टिका रहता है, फ़र्श भी लकड़ी के फट्टों से बनता है। यही पहली मंज़िल की छत होती है। दूसरी मंज़िल से बाहर झांकता छज्जा भी मुख्य ढांचे से बाहर निकले लट्ठों पर टिका रहता है। कोई दो हाथ बाहर निकला यह छज्जा किसी भी हालत में दीवार पर बोझ नहीं बनता। ओबरा, बोवरा, कोठार, मैंजुला और ढैपुरा यानी नींव, नीचे का कमरा, कोठार और दूसरी मंज़िल और फिर ढाई मंज़िल जो घर का अतिरिक्त सामान रखने के लिए काम आती है। हर भाग एक निश्चित नियम के अनुसार बनता रहा है, ऐसे ही अललटप्पू अनगढ़ ढंग से नहीं।

पहाड़ी गांवों के ही नहीं, क़स्बों और शहरों के मकानों की ऊंचाई हमेशा नियंत्रित रखी जाती रही है। एक अलिखित नियम रहा है कि बस्ती का कोई भी घर गांव के देवालय से ऊंचा नहीं बन सकता। भला कौन अपना घर भगवान के घर से ऊंचा दिखाना चाहेगा? फिर भगवान का घर इस देवभूमि में कभी बहुत ऊंचा नहीं बनाया गया। भगवान के

पास किस बात की कमी? पर यहां भी ऊंचाई में संयम ही दिखता है। देश के चारों कोनों से बदरीनाथ धाम जाने वाले तीर्थ यात्री हरिद्वार से दो दिन की कठिन यात्रा पूरी कर जब मंदिर पहुंचते हैं तो एक सुंदर, भव्य लेकिन छोटे से मंदिर को देख मुग्ध हो जाते हैं। जो समाज कवि कालिदास के शब्दों में पृथ्वी को ही माप सकने योग्य ऊंचे, विशाल हिमालय की गोद में पला-बढ़ा है, वह ऊंचाई के विषय में तो विनम्रता ही सीखेगा। वह किसकी ऊंचाई से होड़ लेना चाहेगा? पहाड़ के वास्तुशिल्प में सभी जगह यह बात बहुत प्रेम से अपनाई गई है। इसलिए उसके दो मंज़िले मकानों पर टिप्पणी करने का कम-से-कम हमें तो कोई हक़ नहीं, जिनके मैदानी शहरों में गिरते-पड़ते बेतुके बहुमंज़िले मकान धड़ाधड़ बनते ही चले जा रहे हों।

उत्तराखंड के मकानों की शुभचिंता यहीं ख़त्म नहीं होती। रिपोर्ट का कहना है कि गिर चुके मकानों को दोबारा बनाते समय 'भूकंप सह' क्षमता का काफ़ी ध्यान रखना पड़ेगा, जो मकान इस भूकंप की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए, उन्हें भी रिपोर्ट ने भविष्य के किसी और भूकंप की आशंका को देखते हुए 'भूकंप सह' बनाने पर ज़ोर दिया है। रेखाचित्रों के माध्यम से रिपोर्ट ने अच्छे खड़े साबुत मकानों के 'दृढ़ीकरण' के बहुत ही कठिन हिंदी में बड़े ही सरल तरीक़े सुझाए हैं:

'भूकंप-प्रतिरोध क्षमता बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि भवन की प्रत्येक मंज़िल में बाहरी चारों ओर दरवाज़े के सरदल से ऊपर और छत के नीचे चारों ओर दीवारों को बांधने हेतु एक बंधन-पट्टिका लगाई जाए। इसकी सुगम विधि इस प्रकार है:

दरवाज़े की सरदल और छतों के नीचे के साथ में 30 सेंटीमीटर चौड़ाई को भवन के चारों ओर प्लास्टर उखाड़ कर तार के ब्रुश से रगड़ कर पत्थर अथवा ईंटों को साफ़ कर लेना चाहिए। पत्थरों और ईंटों के

बीच के जोड़ों को कुरेद कर कम-से-कम 25 सेंटीमीटर गहराई तक मसाला निकाल देना है। अब वेल्डमैश तार की बड़ी बनाई जाली, जिसके तार कम-से-कम एक दशमलव पांच मिलीमीटर हों, और छेद इस प्रकार हों कि 30 सेंटीमीटर चौड़ाई में कम-से-कम आठ तार हों यानी लगभग 35 सेंटीमीटर की दूरी पर हों तथा दूसरी ओर तारों की एक-दूसरे से दूरी 75 मिलीमीटर से अधिक नहीं हो, (पाठक माफ़ करें, अभी वाक्य पूरा नहीं हुआ है) 30 सेंटीमीटर चौड़ाई में लेवी ओर से काट कर साफ़ की हुई पट्टी में 75 मिलीमीटर कीलों द्वारा ठोंक देनी चाहिए।'

कीलें न जाने कब से दीवारों में ठोंकी जा रही हैं; पर रिपोर्ट उसका भी वर्णन इन शब्दों में करती है: 'कीलें 60 मिलीमीटर अंदर रहें और 15 मिलीमीटर बाहर रहें, जिससे जाली और दीवार के बीच में कम-से-कम 10 मिलीमीटर का अंतर यथासंभव बना रहे।'

अभी भी आपका मकान 'भूकंप सह' नहीं बना है। थोड़ा-सा धीरज और रखें। बचा हुआ काम रिपोर्ट के अनुसार कुछ इस तरह से होगा: 'अब पूरी जाली को एक और तीन के सीमेंट-रेत अनुपात के मसाले में अथवा 1:1, 5:3 के कंक्रीट द्वारा जिसमें पथरी आठ मिलीमीटर से अधिक मोटी न हो, पलस्तर कर के ढक दें। पलस्तर की मोटाई 5 मिलीमीटर से कम न हो...।'

अब है कोई माई का लाल जो इस 'सुगम विधि' से अपना घर 'भूकंप-सह' बना सकेगा? घर सुधारने की उत्कृष्ट इच्छा रखने वाले गृहस्थ तो दूर, इस सरल विधि को पढ़ने वाले पाठक भी नहीं सह पाएंगे। इसे लिखने वाले विद्वान वैज्ञानिक की शुभचिंता एक तरफ़, लेकिन क्या इन लोगों को उत्तराखंड के गांवों का भी कोई अंदाज़ है जो सड़क से एक-दो-तीन दिन तक की पैदल दूरी पर बसे हैं। वैज्ञानिक अपने अध्ययन-अध्यापन की निराली दुनिया में व्यवहार की बातें भूल बैठे हों

तो भी बात समझ में आ सकती है। पर क्या हो गया सरकार के उस कृषि मंत्रालय को जिसने इस रिपोर्ट को 'मोस्ट इमिजिएट' लिख कर तुरंत प्रचारित कर दिया है। मकानों को भूकंप सह बनाने की सरल विधि में लगने वाला सामान, मिलीमीटर में नाप-तौल कैसे इन गांवों में, कितनी मात्रा में पहुंच सकेगा? वैज्ञानिकों और सरकार का इस संबंध में ऐसा विचित्र उत्साह देख असली सवाल पूछने की हिम्मत ही नहीं जुट पाती कि भैया यह सब करने की ज़रूरत क्या है?

लेकिन लगता है बहुत से लोग इसी में लग गए हैं। भूकंप राहत का काम देख रही कई संस्थाओं में इस तरह की तकनीक के मकानों का कोई आदर्श ढांचा बना लेने की, 'ठोस' सुझाव देने की जैसे होड़ लग गई है। विदेशी अनुदान देने वाली संस्थाएं भी ऐसी तकनीक सुझाने वाले योग्य पात्र की तलाश में हैं। दिल्ली में पिछले सप्ताह एक ऐसे ही मॉडल की प्रदर्शनी और उसे बड़े पैमाने पर उत्तराखंड में उतारने की गोष्ठी भी हो चुकी है।

देश के एक हिस्से पर आए इतने बड़े संकट के बाद उसमें निपटने में वैज्ञानिक, सरकार और हम सब इतने कमज़ोर साबित हों तो पहला काम हमारे दिमाग़ों के 'दृढ़ीकरण' का होना चाहिए, न कि उत्तराखंड के मकानों का।

यह सही है कि भूकंप में मकान बड़े पैमाने पर गिरे हैं। पर कुछ ख़ास जगहों में मकान ज़्यादा गिरे हैं और उनमें भी उस तरह के मकान शायद ज़्यादा हैं जो अब तक की अपनी पद्धति से कुछ हट कर बने थे। यह ख़ास जगह कौन-सी है? उत्तरकाशी का वह भाग जहां पहाड़ों को काटकर, बारूद के बड़े-बड़े धमाकों से उड़ा कर वे सब काम किए गए हैं, जिन्हें विकास कार्य कहा जाने लगा है। कहीं बांध बन रहा है, कहीं कोई बड़ी सड़क। इन सब कामों ने न जाने कब से इन पहाड़ों

को और उन पर बसे गांवों को हिला कर रखा था। बारूद के इन धमाकों से इन इलाक़ों में चूल्हे पर रखे तवे नाचते रहते थे।

हिमालय की अधिकांश बसाहट पुराने भूस्खलन के मलबे के विशाल ढेरों पर बसी है। हर छोटी-बड़ी पहाड़ी के नीचे बहने वाली तेज़ प्रवाह की नदी नीचे से ज़मीन काटती रहती है और ऊपर से वह बरसात जो साल के पूरे चार महीने बरसती है। ऐसे में लोगों ने वर्षों के अच्छे और बुरे अनुभवों से सीख कर जीवन का एक तरीक़ा निकाला था। भूकंप तब भी आए थे और एक हिम्मती, मज़बूत समाज ने बिना किसी के आगे हाथ पसारे अपने संकट को सहा ही था। इन भूकंपों में तमाम सावधानियों के बाद भी कई बार गांव-के-गांव उजड़े होंगे। इनके चिह्न आज भी हैं। अलकनंदा के तट पर चमोली में बसे हाट गांव का एक भाग आज भी छप्परवाड़ा कहलाता है। किसी ऐसे ही संकट में उजड़ने के बाद गांव अस्थायी तौर पर छप्परों के नीचे बसता रहा। फिर धीरे-धीरे लोगों ने फिर से अपने घर-खेत संवार लिए। पर जगह का नाम छप्परवाड़ा ही बना रहा।

धीरे-धीरे चीज़ें बदलीं भी। कुछ मजबूरी में, और कुछ बाहर के असर के कारण सीमेंट के घर की प्रतिष्ठा भी बढ़ी। जितने भी सरकारी मकान बने, इसी से बने। पर हर कोई सीमेंट से मकान नहीं बना पाया। इस इच्छा को पूरा करने का मौक़ा ऐसे इलाक़ों में अनायास ही हाथ लग गया जहां कोई बड़ी सरकारी योजना बनने लगी। चोरी का सीमेंट सस्ता मिला। कई घर बदल गए। जल्दबाज़ी में हुई तोड़-फोड़ और निर्माण में शायद वैसी सावधानी नहीं रखी गई जैसी मकान बनाते समय सदियों से रखी जाती रही है। फिर बारूद के धमाकों ने इसे और कमज़ोर किया। ऐसे में 6.1 माप का भूकंप काफ़ी था। पर इस सबके बाद भी हम यह नहीं कह सकते कि 19 अक्तूबर को आया भूकंप बहुत साधारण

था, उसने तो बस तर्जनी दिखाई थी और कुम्हड़बतियां गिर गईं।

एक तरफ़ तो सरकार और उसके सभी वैज्ञानिक इस ढंग से सोच रहे हैं और दूसरी तरफ़ वे अपनी योजनाओं को बेहद पक्का, मज़बूत, 'भूकंप सह' मानने का गर्व कर रहे हैं। 15 अक्तूबर से अब तक न जाने कितनी बार यह गर्वोक्ति सुनने को मिली है कि टिहरी बांध को भूकंप से कोई नुक़सान नहीं हुआ है। इधर इसी के साथ ऐसे समाचार भी छपते रहते हैं कि बांध में दरार पड़ गई थी लेकिन उसे रातोंरात ठीक कर लिया। पहाड़ों में कई जगह बांध बन रहे हैं। सरकार और उसके वैज्ञानिक हमें यही बताने की कोशिश में लगे हैं कि इन पर कभी भी किसी भूकंप का कोई असर नहीं पड़ेगा। बांध न हुआ, शिवजी का धनुष हो गया। शिवजी का धनुष किसी से हिल तक नहीं पाया था। 'गरऊ कठोर बिछ्ति सब काहू'। रावण और बाणासुर जिनके चलने से ही धरती कांप उठती थी, वे भी धनुष को देख चुपचाप चलते बने, उसे उठाना तो दूर, छूने की हिम्मत भी नहीं हुई। जब एक-एक कर राजा हार गए तो फिर हज़ारों राजाओं ने उसे एक साथ उठाने का प्रयत्न किया था– 'भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा।' पर वह टस-से-मस नहीं हुआ। ऐसे धनुष को श्रीराम ने बस छुआ भर था कि वह टूट गया।

वह क़िस्सा लंबा है। उसे अभी यहीं छोड़ें। पर अंत में उत्तर प्रदेश की उस सरकार से जो राम का नाम लेकर सत्ता में आई है, इतना ही निवेदन करते हैं कि वह तो कम-से-कम भूकंप की तर्जनी; कुम्हड़बतियां और शिवजी के धनुष का ठीक अर्थ समझें।

पर्यावरण : खाने का और दिखाने का और

पांच जून को 'पर्यावरण दिवस' मनाया जाता है। गिनती में यह कुछ भी हो, पर चरित्र में, पर्यावरण की समझ में, यह पहले समारोह से अलग नहीं होता। 1972 में सौ से अधिक देश संयुक्त राष्ट्र संघ के छाते के नीचे पर्यावरण की समस्याओं को लेकर इकट्ठे हुए थे। तब विकास और पर्यावरण में छत्तीस का रिश्ता माना गया था। सरकारें आज भी पर्यावरण और विकास में खटपट देख रहीं है, इसलिए प्रतिष्ठित हो चुके विकास-देवता पर सिंदूर चढ़ाती चली जा रही हैं। लेकिन विकास के इसी सिंदूर ने पिछले दौर में पर्यावरण की समस्याओं को पैदा किया है और साथ ही अपने चटख लाल रंग में उन्हें ढकने की भी कोशिश की है।

सरकारी कैलेंडर में देखें तो पर्यावरण पर बातचीत 1972 में हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के स्टॉकहोम सम्मेलन से शुरू होती है। पश्चिम के देश चिंतित थे कि विकास का कुल्हाड़ा उनके जंगल काट रहा है, विकास की पताकानुमा उद्योग की ऊंची चिमनियां, संपन्नता के वाहन, मोटर गाड़ियां आदि उनके शहरों की हवा ख़राब कर रही हैं, देवता सरीखे उद्योगों से निकल रहा 'चरणामृत' वास्तव में वह गंदा और ज़हरीला पानी है, जिसमें उनकी सुंदर नदियां, नीली झीलें अंतिम सांसें गिन रही हैं।

ये देश जिस तकनीक ने उन्हें यह दर्द दिया था, उसी में इसकी दवा खोज रहे थे। पर तीसरी दुनिया के ज़्यादातर देशों को लग रहा था कि पर्यावरण संरक्षण की यह नई बहस उनके देशों के विकास पर ब्रेक लगा कर उन्हें पिछड़ा ही रहने देने की साज़िश है। ब्राज़ील ने तब ज़ोरदार घोषणा की थी कि हमारे यहां सैकड़ों साफ़ नदियां हैं, चले आओ, इनके किनारे अपने उद्योग लगाओ और उन्हें गंदा करो। हमें पर्यावरण नहीं, विकास चाहिए। भारत ने ब्राज़ील की तरह बाहर का दरवाज़ा ज़रूर नहीं खोला, लेकिन पीछे के आंगन का दरवाज़ा धीरे से खोलकर कहा था कि ग़रीबी से बड़ा कोई प्रदूषण नहीं है। ग़रीबी से निपटने के लिए विकास चाहिए। और इस विकास से थोड़ा बहुत पर्यावरण नष्ट हो जाए तो वह लाचारी है हमारी। ब्राज़ील और भारत के ही तर्क के दो छोर थे और इनके बीच में थे वे सब देश जो अपनी जनसंख्या को एक ऐसे भारी दबाव की तरह देखते थे, जिसके रहते वे पर्यावरण संवर्धन के झंडे नहीं उठा पाएंगे। इस दौर में वामपंथियों ने भी कहा कि 'हम पर्यावरण की विलासिता नहीं ढो सकते।'

इस तरह की सारी बातचीत ने एक तरफ़ तो विकास की उस प्रक्रिया को और भी तेज़ किया जो प्राकृतिक साधनों के दोहन पर टिकी है और दूसरी तरफ़ ग़रीबों की जनसंख्या को रोकने के कठोर-से-कठोर तरीक़े ढूंढ़े। इस दौर में कई देशों में संजय गांधियों का उदय हुआ, जिन्होंने पर्यावरण संवर्धन की बात आधे मन और आधी समझ से, पर परिवार नियोजन का दमन चलाया पूरी लगन से। लेकिन इस सबसे पर्यावरण की कोई समस्या हल नहीं हुई, बल्कि उनकी सूची और लंबी होती गई।

पर्यावरण की समस्या को ठीक से समझने के लिए हमें समाज में प्राकृतिक साधनों के बंटवारे को, उसकी खपत को समझना होगा। सेंटर फ़ॉर साइंस एंड एनवायर्नमेंट के निदेशक अनिल अग्रवाल ने इस बंटवारे

का एक मोटा ढांचा बनाया था। कोई 5 प्रतिशत आबादी प्राकृतिक साधनों के 60 प्रतिशत भाग पर क़ब्ज़ा किए हुए है। 10 प्रतिशत आबादी के हाथ में कोई 25 प्रतिशत साधन हैं। फिर कोई 25 प्रतिशत लोगों के पास 10 प्रतिशत साधन हैं। लेकिन 60 प्रतिशत की फटी झोली में मुश्किल से 5 प्रतिशत प्राकृतिक साधन हैं।

हालत फिर ऐसी भी होती, तो एक बात थी। लेकिन इधर 5 प्रतिशत हिस्से की आबादी लगभग थमी हुई है और साथ ही जिन 60 प्रतिशत प्राकृतिक साधनों पर आज उसका क़ब्ज़ा है, वह लगातार बढ़ रहा है। दूसरे वर्ग की आबादी में बहुत थोड़ी बढ़ोत्तरी हुई है और शायद उनके हिस्से में आए प्राकृतिक साधनों की मात्रा कुछ स्थिर-सी है। तीसरे 25 प्रतिशत की आबादी में वृद्धि हो गई है और उनके साधन हाथ से निकल रहे हैं। इसी तरह चौथे 60 प्रतिशत वाले वर्ग की आबादी तेज़ी से बढ़ चली है और दूसरी तरफ़ उनके हाथ में बचे-खुचे साधन भी तेज़ी से कम हो रहे हैं।

यह चित्र केवल भारत नहीं, पूरी दुनिया का है। और इस तरह देखें तो कुछ की ज़्यादा खपत वाली जीवन शैली के कारण ज़्यादातर की, 80-85 प्रतिशत लोगों की ज़िंदगी के सामने आया संकट समझ में आ सकता है। इस चित्र का एक और पहलू है। आबादी का तीन-चौथाई हिस्सा बस किसी तरह ज़िंदा रहने की कोशिश में अपने आसपास के बचे-खुचे पर्यावरण को बुरी तरह नोचता-सा दिखता है तो दूसरी तरफ़ वह 5 प्रतिशत वाला भाग पर्यावरण के ऐसे व्यापक और सघन दोहन में लगा है जिसमें भौगोलिक दूरी कोई अर्थ नहीं रखती। कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश में लगे कागज़ उद्योग आसपास के जंगलों को हज़म करने के बाद असम और उधर अंडमान निकोबार के जंगलों को भी साफ़ करने लगे हैं। जो जितना ताक़तवर है चाहे वह उद्योग हो या शहर,

उतनी दूरी से किसी कमज़ोर का हक़ छीन कर अपने लिए प्राकृतिक साधन का दोहन कर रहा है। दिल्ली जमुना किनारे है, उसका पानी तो वह पिएगी ही, पर कम पड़ेगा तो दूर गंगा का पानी भी खींच लाएगी। इंदौर पहले अपनी छोटी-सी खान नदी को अपने प्रदूषण से मार देगा और फिर दूर बह रही नर्मदा का पानी उठा लाएगा। भोपाल पहले अपने समुद्र जैसे विशाल ताल को कचराघर बना लेगा, फिर 80 किलोमीटर दूर बह रही नर्मदा से पीने के पानी का प्रबंध करने की योजना बना सकता है। पर नर्मदा के किनारे ही बसा जबलपुर नर्मदा के पानी से वंचित रहेगा, क्योंकि इतना पैसा नहीं है।

कुल मिलाकर प्राकृतिक साधनों की इस छीना झपटी ने, उनके दुरुपयोग ने पर्यावरण के हर अंग पर चोट की है और इस तरह सीधे उससे जुड़ी आबादी के एक बड़े भाग को और भी बुरी हालत में धकेला है। आधुनिक विज्ञान, तकनीक और विकास के नाम पर हो रही यह लूटपाट प्रकृति से (ख़ास कर उसके ऐसे भंडारों से, जो दोबारा नहीं भरे जा सकेंगे, जैसे कोयला, खनिज पेट्रोल आदि) पहले से कहीं ज़्यादा कच्चा माल खींच कर उसे अपनी ज़रूरत के लिए नहीं, लालच के लिए पक्के माल में बदल रही है। विकास कच्चे माल को पक्के माल में बदलने की प्रक्रिया में जो कचरा पैदा करता है, उसे ठीक से ठिकाने भी लगाना नहीं चाहता। उसे वह ज्यों-का-त्यों प्रकृति के दरवाज़े पर पटक आना जानता है। इस तरह इसने हर चीज़ को एक ऐसे उद्योग में बदल दिया है जो प्रकृति से ज़्यादा-से-ज़्यादा हड़पता है और बदले में इसे ऐसी कोई चीज़ नहीं देता, जिससे उसका चुकता हुआ भंडार फिर से भरे। और देता भी है तो ऐसी रद्दी चीज़ें, धुआं, गंदा ज़हरीला पानी आदि कि प्रकृति में अपने को फिर संवारने की जो कला है, उसका जो संतुलन है वह डगमगा जाता है। यह डगमगाती प्रकृति, बिगड़ता पर्यावरण

नए-नए रूपों में सामने आ रहा है। बाढ़ नियंत्रण की तमाम कोशिशों के बावजूद पिछले दस सालों में देश के पहले से दुगने भाग में, 2 करोड़ हेक्टेयर के बदले 4 करोड़ हेक्टेयर में बाढ़ फैल रही है। कहां तो देश के 33 प्रतिशत हिस्से को वन से ढकना था, कहां अब मुश्किल से 10 प्रतिशत वन बचा है। उद्योगों और बड़े-बड़े शहरों की गंदगी ने देश की 14 बड़ी नदियों के पानी को प्रदूषित कर दिया है। गंदे पानी से फैलने वाली बीमारियों, महामारियों के मामले, जिनमें सैकड़ों लोग मरते हैं कभी दबा लिए जाते हैं तो कभी इस वर्ष की तरह सामने आ जाते हैं। इसी तरह कलकत्ता जैसे शहरों की गंदी हवा के कारण वहां की आबादी का एक बड़ा हिस्सा सांस, फेफड़ों की बीमारियों का शिकार हो रहा है। शहरों के बढ़ते क़दमों से खेती लायक़ अच्छी ज़मीन कम हो रही है, बिजली बनाने और कहीं-कहीं तो खेतों के लिए सिंचाई का इंतज़ाम करने के लिए बांधे गए बांधों ने अच्छी उपजाऊ ज़मीन को डुबोया है। इस तरह सिकुड़ रही खेती की ज़मीन ने जो दबाव पैदा किया उसकी चपेट में चारागाह या वन भी आए हैं। वन सिमटें हैं तो उन जंगली जानवरों का सफ़ाया होने लगा है जिनका यह घर था।

किसान नेता शरद जोशी ने खेतों के मामले में जिस इंडिया और भारत के बीच एक टकराव की-सी हालत देखी है : पर्यावरण के सिलसिले में प्राकृतिक साधनों के अन्याय भरे बंटवारे में यह और भी भयानक हो उठती है। इसमें इंडिया बनाम भारत तो मिलेगा, यानी शहर गांव को लूट रहा है, तो शहर-शहर को भी लूट रहा है, गांव-गांव को भी और सबसे अंत में यह बंटवारा लगभग हर जगह के आदमी और औरत के बीच भी होता है। उदाहरण के लिए दिल्ली में ही जमनापार के लोगों का पानी छीन कर दक्षिण दिल्ली की प्यास बुझाई जाती है , एक ही गांव में अब तक "बेकार" जा रहे जिस गोबर से ग़रीब का चूल्हा जलता था अब संपन्न की गोबर

गैस बनने लगी है और घर के लिए पानी, चारा ईंधन जुटाने में हर जगह आदमी के बदले औरत को खपना पड़ता है।

बिगड़ते पर्यावरण की इसी लंबी सूची के साथ-ही-साथ सामाजिक अन्यायों की एक समानांतर सूची भी बनती है। इन समस्याओं का सीधा असर बहुत से लोगों पर पड़ रहा है।

पर क्या कोई इन समस्याओं से लड़ पाएगा? बिगड़ते पर्यावरण को संवार न पाएं तो फ़िलहाल कम-से-कम उसे और बिगड़ने से रोक पाएंगे क्या? इन सवालों का जवाब ढूंढ़ने से पहले बिगड़ते पर्यावरण के मोटे-मोटे हिस्सों को टटोलना होगा।

विकास की सभी गतिविधियां 'उद्योग' बन गई हैं या बनती जा रही हैं। खेती आज अनाज पैदा करने का उद्योग है, बांध बिजली बनाने या सिंचाई करने का उद्योग है, नगरपालिकाएं शहरों को साफ़ पानी देने या उसका गंदा पानी ठिकाने लगाने का उद्योग है। सचमुच जो उद्योग हैं वे अपनी जगह हैं ही। इन सभी तरह के उद्योगों से चार तरह का प्रदूषण हो रहा है।

उद्योग छोटा हो या बड़ा, एक कमरे में चलने वाली मंदसौर की स्लेट-पैंसिल यूनिट हो या नागदा में बिड़ला परिवार की फ़ैक्टरी या समाजवादी सरकार का कारख़ाना—इन सबमें भीतर का पर्यावरण कुछ कम-ज़्यादा ख़राब रहता है। इसका शिकार वहां काम करने वाला मज़दूर बनता है। वह संगठित है तो भी और असंगठित हुआ तो और भी ज़्यादा। फिर इन सबसे बाहर निकलने वाले कचरे से बाहर का प्रदूषण फैल रहा है। यह ज़हरीला धुआं, गंदा पानी वग़ैरह है। इसकी शिकार उस उद्योग के किनारे या कुछ दूर तक रहने वाली आबादी होती है। तीसरी तरह का प्रदूषण इन उद्योगों से पैदा हो रहे पक्के माल का है। जैसे

रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाएं आदि। चौथा प्रदूषण वहां होता है जहां से इन उद्योगों का कच्चा माल आता है।

इनमें से पहले तीन तरह के प्रदूषणों का कुछ हल निकल सकता है, वह आज नहीं निकल पाया है तो इसका कारण है मज़दूर और नागरिक आंदोलनों की सुस्ती। आज भी परंपरागत मज़दूर आंदोलन उद्योग के भीतर के प्रदूषण को अपने संघर्ष का मुद्दा नहीं बना पाया है। ज़्यादातर लड़ाई मज़दूरी वेतन या बोनस को लेकर होती है। इसलिए कभी प्रदूषण का सवाल उठे भी तो इसे भी पैसे से तोल लिया जाता है। मध्य प्रदेश में सारणी बिजली घर की मज़दूर यूनियन ने धुआं कम करने की मांग के बदले धुआं-भत्ता मांगा है।

दूसरा प्रदूषण उद्योग से बाहर निकलने वाली चीज़ों का है। अगर उससे पीड़ित नागरिक संगठित हो जाएं तो उससे भी लड़ा जा सकता है। पक्के माल के रूप में ही सामने आ रहे प्रदूषण से लड़ना ज़रा कठिन होगा, क्योंकि इसके लिए उन चीज़ों की खपत को ही चुनौती देनी पड़ेगी। लेकिन विकास के इस ढांचे के बने रहते चौथी तरह के, प्राकृतिक साधनों के कच्चे माल के रूप में दोहन के कारण हो रहे प्रदूषण से लड़ना सबसे कठिन काम होगा क्योंकि एक तो इस तरह का प्रदूषण हमारे आसपास नहीं काफ़ी दूर होता है और उसका जिन पर असर पड़ता है—वनवासियों पर, मछुआरों पर, बंजारा समुदायों पर, छोटे किसानों, भूमिहीनों पर, वे सब हमारी-आपकी आंखों से ओझल रहते हैं।

ऐसी जगहों से भी विरोध की कुछ आवाज़ें उठ ज़रूर रही हैं पर उनकी कोशिशें पूरे समाज की धारा के एकदम विपरीत होने के कारण जल्दी दब जाती हैं, दबा दी जाती हैं। ऐसे आंदोलन अक्सर अपने बचपन में ही असमय मर जाते हैं।

फिर भी पर्यावरण के बचाव के लिए उठी इन छोटी-मोटी आवाज़ों ने सरकार के कान खड़े किए हैं। पर्यावरण की वास्तविक चिंता की फुसफुसाहट बढ़े तो उसे नक़ली चिंता के एक लाउडस्पीकर से भी दबाया जा सकता है। बेमन से कुछ विभाग, कुछ क़ानून बना दिए गए हैं। उनको लागू करने वाला ढांचा जन्म से ही अपाहिज रखा जाता है। जल प्रदूषण नियंत्रण क़ानून को बने 10 साल हो जाएंगे। पर आज तक उसने नदियों को गिरवी रख रहे उद्योगों को, नगरपालिकाओं को कोई चुनौती भी नहीं दी है। पहले केंद्र में और अब सभी राज्यों में खुल रहे पर्यावरण विभाग भी उन थानों से बेहतर नहीं हो पाएंगे जो अपराध कम करने के लिए खुलते हैं।

पर्यावरण की इस चिंता ने पिछले दिनों पर्यावरण शिक्षा का भी नारा दिया है। विश्वविद्यालयों में तो यह शिक्षा शुरू हो गई है, अब स्कूलों में भी यह लागू होने वाली है। पर इस मामले में शिक्षा और चेतना का फ़र्क़ करना होगा। पर्यावरण की चेतना चाहिए, शिक्षा या डिग्री नहीं। चेतना बिगड़ते पर्यावरण के कारणों को ढूंढ़ने और उनसे लड़ने की ओर ले जाएगी, महज शिक्षा विशेषज्ञ तैयार करेगी जो अंततः उन्हीं अपाहिज विभागों में नौकरी पा लेंगे। नक़ली चिंता का यह दायरा हज़म किए जा रहे पर्यावरण से ध्यान हटाने के लिए ऐसी ही दिखावटी चीज़ें, हल और योजनाएं सामने रखता जाएगा। जब तक पर्यावरण की चेतना नहीं जागती, जब तक विकास के इस देवता पर चढ़ाया जा रहा सिंदूर नहीं उतारा जाता तब तक पर्यावरण लूटा जाता रहेगा, उस पर टिकी तीन-चौथाई आबादी की ज़िंदगी बद से बदतर होती जाएगी। लेकिन विकास की इस धारा को चुनौती देकर विकल्प खोजना एक बड़ा सवाल है। अन्याय ग़ैर बराबरी से लड़ने की प्रेरणा देने वाली मार्क्सवाद विचाराधाराओं तक

में विकास के उसी ढांचे को अपनाया गया है जो पर्यावरण के क़ायमी उपयोग ढूंढ़े बिना पर्यावरण बिगड़ता ही जाएगा। ग़रीबी-ग़ैरबराबरी बढ़ेगी, सामाजिक अन्यायों की बाढ़ आएगी। समाज का एक छोटा-सा लेकिन ताक़तवर भाग बड़े हिस्से का हक छीन कर पर्यावरण खाता रहेगा, बीच-बीच में दिखाने के लिए कुछ संवर्धन की बात भी करता रहेगा। खाने और दिखाने के इस फ़र्क़ को समझे बिना 5 जून के समारोह या पूरे साल भर चलने वाली चिंता एक कर्मकांड बनकर रह जाएगी।

बीजों के सौदागर

अभी इधर हम हरी क्रांति के नुक़सान-लाभ की कोई ठीक बहस भी नहीं चला पाए हैं कि उधर हरी क्रांति लादने वाले हम जैसे देशों को एक और भयानक धंधे में झोंकने की तैयारी पूरी कर चुके हैं। हरी क्रांति का यह 'दूसरा चरण' हमारे बीजों की नींव पर खड़ा हुआ है और इस चरण में उत्तरी दुनिया के अमीर देशों की कुछ इनी-गिनी कंपनियों ने कोई 500 अरब रुपए लगाए हैं। कई देशों में धंधा करने वाली ये दादा कंपनियां बीज के धंधे में इसलिए नहीं उतरी हैं कि उन्हें दुनिया की खेती सुधारनी है, फ़सल बढ़ानी है और भुखमरी से निपटना है। इनका पहला और आख़री लक्ष्य है दुनिया की खेती को अपने हाथ में समेट कर उसका फ़ायदा अपनी जेब में डालना।

हरी क्रांति ने पिछले 14 सालों में अपना हल-बखर चला कर तीसरी दुनिया के देशों में इस नए बीज-धंधे को बोने के लिए खेत तैयार कर लिया है। 'ज़्यादा फ़सल' देने वाले बीजों के साथ अनिवार्य रूप से आने वाली बनावटी खाद और कीटनाशकों के पिटारों ने इन दादा कंपनियों की आंख खोल दी है और इसलिए अब उनकी आंखों में खटक रहा है वह साधारण छोटा-सा देशी बीज, जो कभी भी उनको चुनौती दे सकता है। इसलिए अब उसको तीसरी दुनिया के हर खेत से हटाने और उसके बदले कंपनी के

'प्रामाणिक उत्तम बीज' ठूंसने की भारी कोशिशें की जा रही हैं।

बीजों के भीमकाय सौदे को समझने के लिए हमें पहले बीज के रहस्य को समझना होगा। धरती के गिने जाने लायक़ कोई तीन लाख पौधों में से अब तक बस कोई 30,000 पौधों का सरसरी तौर पर अध्ययन हो पाया है। इनमें से कोई 3000 पौधों पर थोड़ा ज़्यादा काम हुआ है। हमारी थाली-पत्तल में जो कुछ भी परोसा जाता है उसका 90 फ़ीसदी बस केवल 30 पौधों में से आता है। इनमें भी केवल तीन पौधे-गेहूं, चावल और मक्का—हमारे कुल भोजन का 75 फ़ीसदी भाग जुटाते हैं। लेकिन प्रागैतिहासिक लोग स्वाद के मामले में इतने 'ग़रीब' नहीं थे। बीजों के जानकार बताते हैं कि हमारे पूर्वज कोई 1500 से 2000 तरह के पौधों से अपना भोजन चुनते थे। पर फिर खेती की खोज के साथ-साथ पौधों की विविधता घटती चली गई और कुल मिलाकर खेती का इतिहास तरह-तरह के स्वाद की कंजूसी का इतिहास बन गया।

खाना जुटाने वाले पौधों के प्रकार ज़रूर सिकुड़ते गए पर तीसरी दुनिया के देशों में इन सीमित फ़सलों में भी ग़ज़ब की विविधता क़ायम रही। यह बहुत ज़रूरी थी। एक ही क़िस्म का गेहूं, धान, या दाल मौसम के बदलते रूप, कीड़ों के हमले या अगमारी जैसे फ़सलों के रोगों के आगे टिक नहीं सकते थे। इसलिए पिछले नौ हज़ार सालों में तीसरी दुनिया के किसानों ने आज की गिनीचुनी फ़सलों की हज़ारों क़िस्में खोजी थीं, उनको पाला था और पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनको आगे बढ़ाया था। अब यह बात भी सब लोग जानने लगे हैं कि आज ग़रीब माने जाने वाले देश बीजों की क़िस्मों के मामले में बहुत ही अमीर रहे हैं और आज के अमीर देशों की प्लेटों पर परोसा जाने वाला भोजन इन्हीं 'बीज-अमीर' देशों से लाया गया था। अमीर दुनिया में आज बोए जा रहे बीजों के इतिहास में झांकें तो हम भारत, बर्मा, मलेशिया, जावा, चीन, अफ़ग़ानिस्तान, पेरू और ग्वाटेमाला व मैक्सिको के खेतों तक चले आएंगे।

पर आज 'बीज-अमीर' देश ख़तरे में हैं। अब तक हर खेत में फैली बीजों की विलक्षण विविधता ग़ायब हो चली है—हरी क्रांति के लिए रास्ता बनाने में। आज से कोई 80 साल पहले भारत में केवल धान की ही 30,000 क़िस्में बोई जाती थीं। यानी हर दसवें-बारहवें खेत में धान की क़िस्म बदल जाती थी, बदल जाते थे कम या ज़्यादा पानी सहने, कीड़ों, खरपतवारों से लड़ने के उसके गुण, उसका स्वाद। लेकिन अगले 15 सालों बाद हमारे पास सिर्फ़ 15 क़िस्में बच जाएंगी। सैकड़ों सालों से अपनी तरह-तरह की प्याज़ के लिए प्रसिद्ध मिस्र में अब सिर्फ़ एक ही क़िस्म बाक़ी रह गई है: उन्नत गीजा 6। सऊदी अरब ने तेल ज़रूर पा लिया है पर पिछले 30 सालों में उसने जौ की 70 प्रतिशत क़िस्में खो दी हैं। हरी क्रांति के महावत से दोस्ती करने के चक्कर में इन सभी देशों ने पीढ़ियों से सुरक्षित बीज-क़िलों की मज़बूत दीवारें ढहाई हैं।

'बीज-अमीर' देशों की क़िस्मों में घुन लग गया है अब। जिन 'बीज-ग़रीब' देशों के कारण घुन लगा है अब उन्हीं देशों की सरकारें और दादा कंपनियां इन देसी बीजों को बचाने की आवाज़ लगाने लगी हैं। इसके पीछे भी उनकी नीयत अच्छी नहीं है। उनके यहां से बनी उन्नत क़िस्म की प्रजातियां भी उन्हीं के कीटनाशक दवाओं के बावजूद नए तरह के कीड़ों के सामने गच्चा खा जाती हैं। ऐसे में उन्नत बीज के दबदबे को बनाए रखने और कृषि विज्ञान का बिजूका गाड़े रखने के लिए उन्हें फिर से किसी पुराने मज़बूत देसी बीज से संकर बीज बनाने की ज़रूरत आ पड़ती है। इसलिए देसी बीजों का भंडार बनाने का काम शुरू हो गया है।

आज दुनिया भर में 11 केंद्रों में भारी सुरक्षा और भारी तामझाम के बीच देसी बीजों के बैंक बने हैं। इनमें से कुछ तो सीधे-सीधे दादा कंपनियों के बैंक हैं और जो कुछ संयुक्त राष्ट्रसंघ के खाद्य कार्यक्रम आदि जैसे संदेह से परे संगठनों के भंडार हैं, उनके भी अनुदान के इतिहास में जाएं तो दो-तीन 'दानवीर' दादा कंपनियां सामने आती हैं। संवर्धन की

उनकी नीयत दो उदाहरणों में साफ़ हो जाती है। अमीर देशों में फलों का धंधा करने वाली 'यूनाइटेड फ़ूड कंपनी' ने पिछले दौर में केले की लुप्त हो रही क़िस्मों के संवर्धन का झंडा उठाया था। कंपनी ने केलों की तीन-चौथाई क़िस्मों की रज जमा कर ली। इससे उसे जो कुछ नए प्रयोग करने थे कर लिए और फिर पिछले साल इन्हीं दिनों में एकाएक कह दिया कि अब वह केलों की रज का संवर्धन बंद कर रही है। इसी तरह रबर टायर आदि का धंधा करने वाली फ़ायरस्टोन कंपनी ने एशिया, ब्राज़ील और श्रीलंका से रबर की लुप्त हो रही 700 क़िस्मों की रज जमा की और फिर बहुत दुख के साथ घोषणा की कि कुछ 'अपरिहार्य' कारणों से रबर-रज शोध बंद की जा रही है। ये उदाहरण हांडी के दो चावल हैं, बीजों के सौदागरों की पूरी हांडी ऐसे क़िस्सों से भरी पड़ी है।

बीजों की रज पर क़ब्ज़े का मतलब है—आपके-हमारे खेतों में बोए जाने से लेकर काट कर बेचे जाने तक के हर फ़ैसले पर किसी और का नियंत्रण। रज हथिया लो, सब कुछ हाथ में आ जाएगा। बीजों की रज में छिपी है विराट सत्ता और अथाह संपत्ति। लेकिन यह ऐसे ही नहीं मिलेगी, इसलिए जैसे मिलेगी, उसका भी इंतज़ाम किया जा रहा है। ये सब दादा कंपनियां अपने-अपने इलाक़ों में बीज-क़ानून पास करवा रही हैं। इससे उनके हाथों में किसी भी विशिष्ट क़िस्म के बीजों का एकाधिकार आ जाएगा—पौधों की आनुवांशिकता पर उनका हक़ हो जाएगा। वे इस पर अपनी क़ीमत लगा सकती हैं, रॉयल्टी कमा सकती हैं। 'प्लांट ब्रीडर्स राइट' नामक यह बेहद ख़तरनाक क़ानून दुनिया के बीजों को इन कंपनियों की झोली में डाले दे रहा है।

बीजों में इन कंपनियों की रुचि जगने के कुछ और भी मिले-जुले कारण हैं। विलियम टेवेलस एंड कंपनी ने तो इस पूरे मामले पर एक मोटा पोथा ही तैयार कर लिया है—'द ग्लोबल सीड स्टडी' नाम के इस

पोथे की क़ीमत है 25000 अमेरिकी डॉलर। पोथे के एक-एक शब्द से शानदार मुनाफ़े की फ़सल काटी जा सकती है तभी तो यह बिक रही है। बीजों में बढ़ती रुचि का एक अंदाज़ इस धंधे के केंद्रीकरण से भी लग सकता है। दादा कंपनियां बीज के धंधे में लगी दो-चार छोटी कंपनियों को हर साल अपने में विलीन कर रही हैं। इंग्लैंड में सन् 80 के अंत में 'प्लांट ब्रीडर्स राइट' क़ानून पास होने के आसपास एक बड़ी कंपनी ने कोई 100 छोटी कंपनियों को पूरा-पूरा ख़रीद लिया था। 'अपनी बीज कंपनी कैसे बेचें?' जैसी गोष्ठियां भी होने लगी हैं।

ये नए 'बीजपति' कौन हैं? वही जो अब तक दवाओं, पेट्रोल, रासायनिक खादों और कीटनाशक दवाओं का धंधा करते थे। पर्यावरण की बढ़ती चेतना से इनकी बदनामी भी बढ़ी थी, इसलिए अब ये अपना पैसा बीज जैसे 'साफ़' धंधे में लगा रहे हैं। सीबा-गायगी, यूनियन कार्बाइड, सेंडोज, एस्सो, शैल देखते-ही-देखते इस धंधे में उतर आए हैं।

इस होड़ का हम सब पर क्या असर होगा? सदियों से विकेंद्रित स्तर पर यानी अलग-अलग किसानों के घरों में बंडों, खंतियों में सुरक्षित बीजों की क़िस्मों का अपहरण होगा। और फिर इन्हीं में से कुछ क़िस्में छांटकर, उन्नत बनाकर हमें दी जाएंगी। पर दूल्हा अकेला नहीं आता, साथ पूरी बारात लाता है। तीसरी दुनिया के देशों में इससे रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाओं का बाज़ार कोई दस गुणा तक बढ़ जाएगा।

बीज धंधे की बाढ़ आ रही है, पर हमने उससे बचने की अभी तक कोई तैयारी नहीं की है। 15 साल पहले देश के एक प्रसिद्ध (और अब बिल्कुल भुलाए जा चुके) धान विशेषज्ञ डॉ. राधेलाल रिछारिया ने देसी धान की शानदार मज़बूत व स्वावलंबी क़िस्मों की तरफ़दारी करते हुए विदेशी संकर क़िस्मों का विरोध किया था। विरोध का यह पहला अंकुर उसी समय मसल दिया गया। श्री रिछारिया को धान शोध के रायपुर और

कटक केंद्रों से बाहर कर दिया गया। बहुत बाद में उन्हें म.प्र. सरकार ने अपना धान-सलाहकार ज़रूर बनाया पर पूरे देश में खेतीबाड़ी की शोध चलाने या कहें चलवाने वालों को यह स्वीकार नहीं हुआ।

बीजों के सौदागरों के ख़िलाफ़ अब फिर से एक आवाज़ उठाने की कोशिश चली है। लेकिन यह आवाज़ कृषि पंडितों की ओर से नहीं, कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओं की ओर से उठी है। प्रो. उपेंद्र बक्शी एक साल से इस सारे मामले को उजागर करने वाला एक खुला पत्र जगह-जगह भेज रहे हैं। मद्रास में 'द स्किल्स' नामक कलाकारों की एक संस्था ने बीजों के सौदागरों पर सुरुचिपूर्ण, लेकिन हिला देने वाले 15 पोस्टर बनाए हैं। इन्हें तैयार किया है चंद्रलेखा ने। चंद्रलेखा इन्हें लेकर विभिन्न ग़ैर-सरकारी संस्थाओं, सभा-सम्मेलनों में दिखा रही हैं। अब तिलोनिया की एक सामाजिक संस्था के कुछ ग्रामीण कलाकार कठपुतलियों के जरिए राजस्थान में इसे उठाने जा रहे हैं।

जब तक अनाज के बारे में फैले-फैलाए गए कुछ भ्रम नहीं टूटते तब तक देसी बीजों की तरह इस देसी विचार को अनुकूल खेत नहीं मिल पाएगा। पहला भ्रम है आबादी का 'विस्फोट' और उससे निपटने के लिए हरी क्रांति का। दूसरा बड़ा भ्रम है कि अमीर देशों की भारी ऊर्जा जलाने वाली तकनीक अनाज के मामले में दुनिया को बेफ़िक्र कर सकती है। तीसरा भ्रम है कि खेती को एक बड़े धंधे में बदलने वाली दादा कंपनियां अपने नए, उन्नत, एक से गुण (या अवगुण) वाले बीजों से हमें तार लेंगी।

खेती का पवित्र रहस्य और उसकी सृजनशीलता वहीं है जहां वह हमेशा से रही है—किसान परिवारों में। ये ही किसान धरती के बीजों को सुरक्षित रखे आ रहे हैं, भविष्य में भी ये ही उन्हें सुरक्षित रख पाएंगे, बीजों के सौदागर नहीं।

बारानी को भी ये दासी बना देंगे

खेती मंत्रालय शायद ज़मीन पर उतर सके। खेती-बाड़ी के राज्यमंत्री चंदूलाल चंद्राकर और कुछ बड़े अधिकारियों ने पहली बार इस हफ़्ते स्वीकार किया है कि बारानी असिंचित खेती की तरफ़ ध्यान दिए बिना सातवीं योजना के आख़री छोर पर रखा गया अनाज उत्पादन का लक्ष्य छू पाना बहुत मुश्किल होगा। अगले साल यह लक्ष्य 16 करोड़ टन है और साल के अंत तक इसे 18 करोड़ 80 लाख टन तक पहुंचाने की बात है।

लेकिन ज़मीन पर उतरने का तरीक़ा बहुत हवाई-सा दीखता है। अगले महीने दिल्ली में होने वाले राष्ट्रीय विकास परिषद के सम्मेलन में बारानी खेती की एक राष्ट्रीय योजना को मंजूरी दी जाएगी फिर यह शुष्क भूमि कृषि योजना के नाम से जानी जाएगी। यदि 'नाम में क्या रखा है' ऐसा सवाल उठाया जाए तो कहना पड़ेगा कि योजना का नामकरण ठीक नहीं हुआ है। वह शुष्क भूमि के लिए नहीं, असिंचित भूमि के लिए बनाई गई है और ऐसी असिंचित खेती को वहां के किसान बरसों से बारानी खेती कहते आ रहे हैं।

फ़ारसी से कभी हिंदी में आए बारानी शब्द का मतलब है वर्षा के

पानी से होने वाली खेती। यह कोई बताने की बात नहीं है कि बारानी का तरीक़ा इस देश में यहां से वहां तक फैला हुआ है।

लेकिन राष्ट्रीय योजना बनाने से पहले केंद्रीय सरकार ने इसका बाक़ायदा सर्वे किया है और पाया है कि देश की कुल खेती का 73 प्रतिशत बारानी है और कुल अनाज-उपज का 42 प्रतिशत बारानी से उपजता है।

सर्वे वालों को इस बात का बहुत दुख है कि 6 पंचवर्षीय योजनाओं के बाद भी ज़्यादातर बारानी को लाभकारी नहीं बनाया जा सका है। उसका कहना है कि बारानी की ज़मीन में वर्षा के बाद नमी क़ायम रखना एक बड़ी समस्या है और इसमें फ़सल के दानों को पनपाना भी बहुत कठिन काम है। इसलिए इन दो कठिन मामलों पर किसानों की मदद करने के लिए हर ज़िले में एक-एक विज्ञान केंद्र खोला जाएगा। अभी ऐसे केंद्र 89 ज़िलों में है। इन केंद्रों के ज़रिए इनको उम्दा बीज, खाद, कीड़ेमार दवाएं और आधुनिक कृषि की तकनीक पहुंचाई जाएगी और इस तरह खेती को लाभदायक और वैज्ञानिक बनाया जाएगा।

दिक़्क़त वहीं से शुरू होगी। हर चीज़ को लाभदायक और वैज्ञानिक बनाने के चक्कर में घोषणाओं ने और ज़्यादातर उनके पीछे चलने वाले नेतृत्व ने कई अच्छे उपजाऊ इलाक़ों को बर्बाद किया है। जो प्यार बारानी पर बरसता दिखने वाला है, वह आज तक तो सिंचित क्षेत्र पर बरसता रहा है। अधिक-से-अधिक खेतों को नहरों के पानी से सींचने से हरित क्रांति लाने की कोशिश ने बारानी खेती की बहुत उपेक्षा की है। जिनकी आंखों में बड़े बांध बड़ी योजनाएं बसी हैं उन्हें बारानी खेती पिछड़ी लगती है। ऐसे इलाक़े, ऐसे किसान, पिछड़े और खेती में बोई जाने वाली फ़सलें परंपरागत कहलाती हैं।

बारानी के विकास की सभी योजनाएं परंपरागत और आधुनिक शब्दों के ख़तरनाक खेल से ऊपर नहीं उठती दिखती। इसलिए योजना बनाने; और उसे लानेवाले इस खेती के उद्धारक की तरह सामने आ रहे हैं। इसलिए वे बारानी के वर्षों के बाद नमी सोखने से लेकर अच्छे उन्नत बीज लाने की बातें कर रहे हैं। बारानी करने वाले किसान ऐसा कहें कि हर किसान से कोई विशेषज्ञ यह पूछेगा कि बारानी वर्षा की नमी सोखना एक समस्या है तो वह हंसेगा। वह समस्या नहीं वह तो तरीक़ा है। तरीक़े को समस्या मान कर देखने लगे तो कुल खेती समस्या बन जाएगी।

बारानी में वर्षा नमी रोकने के लिए हर इलाक़े के किसानों ने अपने अपने ढंग से शानदार उपाय निकाले हैं। इसका मुख्य आयाम रहा है– ऊंचे-नीचे खेतों में मेड़ बांधकर बरसात का पानी रोकना। मध्यप्रदेश के एक भाग में वह हवेली पद्धति कहलाती है। वह खेती किसान धरती और शबार तीनों की ज़रूरत का ख़्याल रखती है। बारानी में बदल-बदल कर अपने क्रम से आने वाला फ़सल चक्र धरती के उपजाऊपन का भी ख़्याल रखता है। कुछ फ़सलें खेत से कुछ ख़ास तत्व उधार लेकर पनपती हैं तो उनके बाद आने वाली फ़सलें खेती को फिर से तत्व वापस लौटाकर उपजाऊपन का पिछला हिसाब बराबर करने की कोशिश करती हैं–जैसे दलहन की फ़सलें। इधर लेन-देन में जो भूल-चूक रह जाती है, उसे किसान कंपोस्ट और गोबर की खाद से पूरा करता है।

लेकिन तिजोरी भत्ते वाला बाज़ार हो, जैसा कि वह अनाथ हो चला है वो इसमें मदद नहीं देखती। अन्न का बाज़ार खेतों का धंधा चलाने वाले बाज़ार का फ़र्क़ किए बिना खेती की और देश के कुल उत्पादन में उसके योगदान को नहीं समझा जा सकता। बारानी को राष्ट्रीय योजना

में बताया गया है कि इस खेती से कुल खाद्यान्न का 42 प्रतिशत उत्पादन हो रहा है। बड़े-बड़े बांधों से सिंच रही खेती से उगने वाली 85 प्रतिशत फ़सल कहां जाती है, यह समझ में नहीं आ सकेगा।

देश के सिंचित इलाक़ों में पैदा हो रही फ़सल का एक बड़ा भाग रोकड़ ख़रीद फ़सलों का है। रोकड़ फ़सल खाने के काम नहीं तिजोरी भरने के काम आती है। और इस तरह भरी हुई तिजोरी उन्नत और बनावटी खाद, कीड़ेमार दवाओं खरपतवारों से कीड़ों को ख़त्म करने में फिर से खाली हो जाती है। इस तरह की आधुनिक खेती में कुछ थोड़े से लोग कमाते है शेष किसान गंवाते ही रहते हैं। यहां-वहां उधर किसान आंदोलन का असंतोष और उसके पीछे खेती के खपत मूल्य के आधार पर फ़सल का दाम तय करवाने की मांग का क्षेत्र ब्योरा ज़्यादातर आधुनिक सिंचित क्षेत्रों में उभरा है। यह संयोग नहीं है, रोकड़ फ़सल को बोने–बेचने की मज़बूरी से लेकर मोह तक का अनिवार्य नतीजा है।

ग़नीमत थी कि बारानी का इलाक़ा यानी एक तरह से तीन चौथाई देश खेती को धंधे में बदलने वाली आधुनिक बुराइयों से बचा रहा है।

विभागों में भटक कर पुरे तालाब

'जब गणेशजी इस तालाब में पूरे नहीं डूब पाएंगे तो समझ लेना कि गांव पर संकट आने वाला है', सुपारी के पत्तों की टोपी पहने उस आदमी ने अपने दादाजी की चेतावनी दुहराते हुए जोड़ा था कि पिछले साल गणेश-उत्सव में कुछ ऐसा ही हुआ था।

महाराष्ट्र से जुड़े-कर्नाटक के हिस्से में इस तालाब पर आया संकट देश पर छा रहे पानी के संकट की तरफ़ इशारा कर रहा है। गांव-गांव में, क़स्बों में और शहरों तक में सिंचाई से लेकर पीने के पानी तक का इंतज़ाम जुटाने वाले तालाब आज बड़े बांध, बड़ी सिंचाई और पेयजल योजनाओं के इस दौर में उपेक्षा की गाद में पट चले हैं। वर्षों तक मज़बूती से टिकी रही अनेक तालाबों की पालें आज बदइंतज़ामी की 'पछवा हवा' में ढह चली हैं।

कर्नाटक में मलनाड क्षेत्र की सारी हरियाली और उससे जुड़ी संपन्नता वहां के तालाबों पर टिकी थी। सिंचाई विभाग वाले बताएंगे कि 'न जाने कब और किसने ये तालाब बनाए थे। पर थे ये बड़े ग़ज़ब के। ऊंची-नीची ज़मीन और छोटे-छोटे पहाड़ों के इस इलाक़े में हर तरफ़ पानी का ढाल देख कर इनकी जगह तय की गई थी। पहाड़ की चोटी

पर एक बूंद गिरी और वह आधी इस तरफ़ बहे और आधी उस तरफ़ तो दोनों तरफ़ उसे अपने में समा लेने वाले तालाब मिल जाएंगे। लेकिन वह पुराना ज़माना चला गया। सिंचाई के नए-नए तरीक़े आ गए हैं।'

नए माने मनवाए जा रहे तरीक़ों की ज़िम्मेदारी उठाने वाले नेता और विभाग अपने इस नए बोझ से अभिभूत हैं। वे जानना ही नहीं चाहते कि उनके कंधे बहुत ही नाज़ुक हैं। और उनके गर्वीले बोझ को दरअसल दूसरे लोग ढो रहे हैं। ज़माने के नए तरीक़ों की ढोल पीटने के बावजूद आज भी कई इलाक़ों में दम तोड़ रहे इन्हीं तालाबों के बल पर गांवों की व्यवस्था टिकी है। मलनाड के इलाक़े में 54 प्रतिशत सिंचित खेती तालाबों से पानी ले रही है। चेल्लापु शिरसी में यह प्रतिशत चौंकाने की हद तक यानी 97 प्रतिशत है। सागर तालुके में गन्ने की 'आधुनिक' खेती का आधा हिस्सा पुराने तालाबों पर टिका है।

मलनाड के तालाब यों अपेक्षाकृत छोटे हैं और दस से चौदह एकड़ तक के आयाकट (कमांड क्षेत्र) के। पर इस इलाक़े से पूरब में बढ़ते जाएं तो तालाबों का आकार बढ़ता जाता है। शिमोगा में औसत आकार 84 एकड़ आयाकट तक मिलेगा। कहीं-कहीं यह 500 एकड़ तक छूता है। कर्नाटक भर में अलग-अलग तरह की ज़मीन और पनढाल को ध्यान में रख कर कुल मिला कर 34,000 से भी ज़्यादा तालाब हैं। इनमें से कोई 23,000 तालाबों के बारे में छिटपुट जानकारी यहां-वहां दर्ज मिलती है। 10 से 50 एकड़ के 16740, 50 से 100 एकड़ वाले 1363 और 100 से 500 एकड़ आयाकट वाले कोई 2700 तालाब घोर उपेक्षा के बावजूद टिके हुए हैं।

यह उपेक्षा कोई दो-चार साल की नहीं, कम-से-कम 150 साल से चली आ रही है। गाद से पटते जा रहे इन तालाबों की जानकारी देने वाली रिपोर्टों पर भी इन्हीं की टक्कर पर धूल चढ़ती जा रही है। इस

धूल को झाड़िए तो पता चलता है कि कोई 180 बरस पहले इन तालाबों के रखरखाव पर समाज की जो शक्ति, अक्ल और रुपया ख़र्च किया जाता था, आज कल्याणकारी बजट और विकास के लिए बेहद तत्पर विद्वानों और विशेषज्ञों की एक कौड़ी भी इस मद में नहीं ख़र्च की जा रही है। इन तालाबों के पतन का इतिहास पूरे देश में फैल रहे अकाल की प्रगति का भयानक भविष्य बनता जा रहा है।

पुराने दस्तावेज़ों की धूल झाड़िए तो पता चलता है कि सन् 1800 से सन् 1810 तक दीवान पुणैया के राज में कर्नाटक के मलनाड क्षेत्र में बने तालाबों के रखरखाव के लिए हर साल ग्यारह लाख ख़र्च किए जाते थे। फिर आए अंग्रेज़। और उनके साथ आया राजस्व विभाग। सिंचाई का प्रबंध राजस्व विभाग के हाथों में दे दिया गया। जो तालाब कल तक गांव के हाथ में थे, वे राजस्व विभाग के हो गए। 'ढीले-ढाले सुस्त और ऐयाश राज का अंत हुआ और चुस्त प्रशासन का दौर आया।' चुस्त प्रशासन ने इन तालाबों के रखरखाव में भारी फिज़ूलख़र्ची देखी और सन् 1831 से 1836 तक इन पर हर बरस 11 लाख के बदले 80,000 रुपया ख़र्च किया। सन् 1836 से 1862 तक के सत्ताइस बरसों में और क्या-क्या 'सुधार' हुए, इसका सही अंदाज़ा नहीं जुट पाता लेकिन फिर 1863 में पीडब्ल्युडी विभाग बनाया गया और तालाबों की सारी व्यवस्था राजस्व विभाग के हाथों से लेकर पीडब्ल्युडी को सौंप दी गई। सिद्धांतः माना गया कि आख़िरकार इन तालाबों का संबंध कोई राजस्व विभाग से तो है नहीं, ये तो लोक कल्याण का मामला है सो लोक कल्याण विभाग को ही यह काम देखना चाहिए। 1863 से 1871 तक पीडब्ल्युडी ने क्या किया, पता नहीं चलता। यह ज़रूर पता चलता है कि उत्पादन को बढ़ाने के लिए सिंचाई की उचित व्यवस्था बनाने पर ज़ोर दिया गया और इसलिए 1871 में एक स्वतंत्र सिंचाई विभाग की स्थापना कर दी गई।

नया सिंचाई विभाग बेहद सक्रिय हो उठा। सिंचाई की रीढ़ बताए गए तालाबों की 'बेहतर देखभाल' के लिए फ़टाफ़ट नए-नए क़ानून बनाए गए। इन्हें पहली नवंबर 1873 से लागू किया गया। सारे नए क़ायदे क़ानून तालाबों से वसूले जाने वाले 'सिंचाई-कर' को ध्यान में रख कर बनाए गए थे। इसलिए पाया गया कि जो तालाब उस समय 300 रुपए की आमदनी भी नहीं दे सकते भला उनके रखरखाव की ज़िम्मेदारी उन महान कार्यालयों पर क्यों आए, जिनके मालिक के साम्राज्य में सूरज कभी अस्त नहीं होता। लिहाज़ा 300 रुपए तक की आमदनी देने वाले तालाब विभाग के दायित्व से हटा कर फिर से उन्हीं किसानों को सौंप दिए जो कुछ ही बरस पहले तक इनकी देखभाल करते थे। बिल्कुल बदतमीज़ी न दिखे शायद इसलिए इस फ़ैसले में इतना और जोड़ दिया गया कि इन तालाबों के रखरखाव से संबंधित छोटे-छोटे काम तो गांव वाले ख़ुद कर ही लेंगे पर यदि कोई बड़ी मरम्मत का काम आया तो सरकार पूरी उदारता के साथ मदद देगी। इस तरह 'गंवाऊ' और 'कमाऊ' तालाबों का बंटवारा किया गया। स्वतंत्र सिंचाई विभाग के पास रह गए मंझोले और बड़े तालाब। तालाबों से लाभ कमाने, यानी अधिकार जताने और मरम्मत करने यानी कर्तव्य निभाने के बीच की लाइन खींच दी गई। पानी-कर तो बाक़ायदा वसूला जाएगा पर यदि मरम्मत की ज़रूरत आ पड़ी तो 'तालाब इंस्पेक्टर, अमलदार और तालुकेदार रैयत से इस काम के लिए चंदा मांगेंगे।'

तालाबों से पानी-कर खींचा जाता रहा पर गाद नहीं निकाली गई कभी। धीरे-धीरे तालाब बिगड़ते गए। उधर पानी-कर की दरें भी बढ़ाई जाती रहीं। किसानों में असंतोष उभरा। बीसवीं सदी आने ही वाली थी। बिगड़ती जा रही सिंचाई व्यवस्था को बीसवीं सदी में ले जाने के ख़्याल से ही शायद तब घोषणा की गई कि हर वर्ष 1000 तालाबों की मरम्मत

का काम हाथ में लिया जाएगा। अंग्रेज़ों के काम करने का तरीक़ा कोई मामूली तरीक़ा नहीं था। नया काम हाथ में लेना हो तो पहले उसके लिए नए क़ानून बनेंगे। इसलिए पुराने क़ानून बदल डाले। 1904 में रैयत से कहा गया कि हर वर्ष 1000 तालाबों का काम कोई छोटा-मोटा काम नहीं है। जिन तालाबों की मरम्मत के लिए रैयत पहल करेगी, कुल ख़र्च का एक तिहाई अपनी ओर से जुटाएगी। उन्हीं तालाबों की मरम्मत का काम सरकार अपने हाथ में लेगी। फिर कुल लागत उस तालाब से मिलने वाले 20 वर्ष के राजस्व से ज़्यादा नहीं होनी चाहिए। हां, अंग्रेज़ी राज इंग्लैंड का अपना घर फूंक कर मलनाड के तालाबों की मरम्मत भला क्यों करे?

इसलिए 1904 से 1913 तक मलनाड के कितने किसान अपना घर फूंक कर अपने तालाब दुरुस्त करते रहे, इसका कोई ठीक लेखा-जोखा नहीं मिल पाता। लेकिन लगता है यह तालाब-प्रसंग बेहद उलझता गया और इसे सुलझाने का एक ही तरीक़ा बचा था—स्वतंत्र सिंचाई विभाग को 'ग़ुलाम' बनाने वाले बहुत से तालाब फिर से रेवेन्यू विभाग को सौंप दिए गए। इसी दौर में 'टैंक पंचायत रेगुलेशन क़ानून' बनाया गया। और अब तालाबों की मरम्मत में रैयत का 'चंदा' अनिवार्य कर दिया गया। फिर भी काम तो कुछ भी नहीं हुआ इसलिए एक बार फिर इस मामले पर 'पुनर्विचार' किया गया और फिर सारे तालाबों की देखरेख रेवन्यू से ले कर उसी भरोसेमंद पीडब्ल्यूडी को सौंप दी गई। सन् 1913 से अंग्रेज़ी राज के अंतिम वर्षों का दौर उथल-पुथल का रहा। जब पूरा राज ही हाथ से सरक रहा था तब इन तलैयों की तरफ़ भला कैसे ध्यान जाता। फिर भी अपने भारी व्यस्त समय में कुछ पल निकाल कर एक बार इन्हें फिर राजस्व को दिया गया। तालाबों की इस शर्मनाक अदला-बदली का क़िस्सा आज़ादी के बाद भी जारी रहा। 1964 में एक बार फिर 'कुशल प्रबंध' के लिए ये तालाब राजस्व के हाथ से छीन

कर लोक कल्याण विभाग को सौंपे गए। बिल्लियां झगड़ नहीं रही थीं फिर भी उनके हाथ से रोटी छीन कर 'बंदरबांट' करने का ऐसा विचित्र क़िस्सा और शायद ही कहीं मिलेगा।

आज ये तालाब धीमी मौत की तरफ़ बढ़ते ही चले जा रहे हैं। इनमें प्रतिवर्ष 0.5 से लेकर 1.5 प्रतिशत गाद जमा हो रही है। इन तालाबों से लाभ लेने वाले गांव आज भी अंग्रेज़ों के ज़माने की तरह पानी-कर चुकाए चले जा रहे हैं। सन् 1976 में पानी-कर में 50 से 100 प्रतिशत की वृद्धि भी की जा चुकी है पर इस बढ़ी हुई कमाई का एक भी पैसा इन तालाबों पर ख़र्च नहीं किया जाता है। खुद सरकारी रिपोर्टों का कहना है कि इस क्षेत्र के किसान कर चुकाने में बेहद नियमित हैं।

पिछले दिनों कर्नाटक के योजना विभाग ने इन तालाबों का कुछ अध्ययन किया है। केवल 6 हफ़्ते में विभाग के सर्वश्री एसजी भट्ट, रामनाथन चेट्टी और अंबाजी राव ने राज्य के 34,000 तालाबों में से कोई 22,000 तालाबों के बारे में एक अच्छी रिपोर्ट बनाई थी। उन्होंने अनेक वर्षों पहले बने इन तालाबों की पीठ थपथपाई है और इन्हें फिर से स्वस्थ व स्वच्छ बनाने का ख़र्च भी आंका है। 22891 तालाबों से गाद हटाने, उन्हें साफ़ करने के लिए कोई 72 करोड़ रुपए की ज़रूरत है। 'पर इतना पैसा कहां से आएगा'। जैसा सरकारी जवाब सुनने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसे जवाब के बाद यह तो कहना चाहिए कि इन तालाबों से सिंचाई कर लेना छोड़ दो। जब मरम्मत ही नहीं तो कर किस बात का? तब किसान मरते हुए इन तालाबों को अपने आप, अपने श्रम से, चंदे से, अपनी सूझबूझ से पुनर्जीवित कर लेंगे। दो महीने की लंबी बीमारी से उठ कर आए मुख्यमंत्री रामकृष्ण हेगड़े दो सौ वर्षों से बीमार रखे गए तालाबों और उन तालाबों से जुड़े किसानों का, गांवों का दर्द अब भी नहीं समझ सकेंगे तो कब समझेंगे?

गोपालपुराः न बंधुआ बसे, न पेड़ बचे

यह क़िस्सा, पर्यावरण के एक छोटे-से काम की पहली बरसी पर फूल चढ़ाने और उसकी मृत्यु का कारण बने कुछ पत्रकारों, अधिकारियों और समाजसेवकों को लगे हाथ गरिया लेने के लिए लिखा जा सकता था। लेकिन एक तो हिंदी का गाली-भंडार भगवान की दया से बहुत समृद्ध नहीं है और फिर अपनी आदत भी गाली-गलौज की नहीं रही है। क्रोध के पात्र दया के पात्र बन जाते हैं।

राजस्थान के अलवर ज़िले का गोपालपुरा कोई बड़ा गांव नहीं है। लेकिन पिछले वर्ष इन्हीं दिनों वह बड़ी-बड़ी ख़बरों में बना रहा। ख़बरों में पहले उसकी ख़ूब पीठ ठोंकी गई और फिर अचानक न जाने क्या हुआ उसकी कमर तोड़ दी गई।

गांव के सब लोगों ने वहां काम कर रही एक छोटी-सी संस्था 'तरुण भारत संघ' की मदद से अपने पानी के संकट से निपटने के लिए कोई चार साल पहले चार तालाब बनाए थे। क़िस्सा सचमुच पसीने से बने इन तालाबों के पनढाल को संवारने के लिए लगाए गए गांव के जंगल का है। पर क़िस्से से पहले भी एक क़िस्सा हो चुका था।

अभी तालाब बने ही थे कि संस्था के नाम सिंचाई विभाग का एक

नोटिस आ गया। नोटिस में कहा गया था कि ये तालाब अवैध हैं, इन्हें तुरंत 'हटा' लिया जाए वरना सिंचाई क़ानून फ़लां-फ़लां के अनुसार कड़ी कार्रवाई की जाएगी। अकाल का इलाक़ा, पानी की बेहद कमी। ऐसे में गांव की ज़मीन पर अपनी ही मेहनत से तालाब बना लेने से भला कैसे क़ानून टूट गया? मज़बूत तालाब बन गए थे, नाज़ुक क़ानून टूट गया था। कहीं ऐसा तो नहीं था कि संस्था ने बिना पूछे तालाब बनवा लिए थे? संस्था से पूछताछ की। संस्था थोड़ी स्वाभिमानी निकली। उसने बताया कि तालाब बनाने के लिए हम किसी से इजाज़त लेना पसंद नहीं करते, हां विभाग को लिखकर ज़रूर दे दिया गया था। फिर सिंचाई विभाग से पूछताछ की तो पता चला कि उसकी चिंता इन तालाबों की मज़बूती को लेकर है। इंजीनियरिंग पढ़े-लिखे सिंचाई विभाग के रहते 'गंवार और अनपढ़' लोग अपने आप तालाब बनाने लगें और कहीं वे टूट जाएं तो नुक़सान की ज़िम्मेदारी किसकी होगी भला? सरकारी बात में सरकारी दम भी था और दंभ भी। संस्था से फिर पूछा कि सब कुछ सोच समझ कर, नाप-तौल कर तो बनाया है? संस्था ने कोई जवाब नहीं दिया। उसकी चुप्पी से इतना ज़रूर याद आया कि लाखों तालाब तो सैकड़ों बरसों से बनते रहे हैं। सिंचाई विभाग को बने तो 200 बरस भी ठीक से नहीं हो पाए हैं।

तरुण भारत संघ की चुप्पी टूटी, बरसात के पहले झले के साथ। तार आया कि लोगों के सब तालाब लबालब भर गए हैं लेकिन सिंचाई विभाग के दो तालाब फूट गए हैं। किसी के लिए सुखद और किसी के लिए दुखद यह सूचना अलवर सिंचाई विभाग को पहुंचाई। तब से आज तक विभाग का मौन और शालीनता से लबालब भरा व्यवहार प्रशंसा योग्य ही माना जाना चाहिए। पांच बरस पहले इन्हीं दो-चार 'अवैध'

तालाबों से शुरू हुआ काम आज बढ़कर एक सौ तीस तालाबों तक पहुंचने वाला है। पर इस क़िस्से को अभी यहीं छोड़ दें।

वापस आएं मुख्य क़िस्से पर। तालाब के काम में सफलता मिलने के बाद गोपालपुरा के लोगों ने इन तालाबों के जलग्रहण क्षेत्र में पेड़ों का काम उठाया। उजाड़ व बंजर पड़ी गांव की ही इस ज़मीन पर पंचायत ने प्रस्ताव पास कर पेड़ लगाने का फ़ैसला किया। पेड़ों की रखवाली के लिए चारों तरफ़ पत्थर की मज़बूत दीवार बनाई। सैकड़ों गड्ढे खोदे, पौधे लगाए और फिर उनकी देखरेख के लिए गांव की तरफ़ से ही एक वन रक्षक की भी नियुक्ति की। लोगों के लगाए वन में चोरी करना, कटाई-छंटाई करना अपराध घोषित किया गया।

इस अपराध का दंड रखा गया और ऐसे अपराधों को देख कर चुप रह जाने की सजा भी गांव ने आपस में बैठ कर तय की। यह सारी व्यवस्था गांव की सरकारी पंचायत ने नहीं, बल्कि बरसों से चली आ रही गांव की अपनी पंचायत ने की थी।

अपनी ही ज़मीन पर अपने हरे-भरे भविष्य का जंगल खड़ा करने में भी कहीं सरकार 'अवैध' तालाब की तरह अवैध जंगल का तर्क न रख दे इस ख़्याल से इस काम की भी सूचना ज़िले के राजस्व विभाग को दी गई और प्रार्थना की गई कि यह ज़मीन बाक़ायदा गांव के वन के नाम कर दी जाए।

गोपालपुरा और ज़िला मुख्यालय की दूरी कोई बहुत तो नहीं है- बस से दो घंटे, सरकारी जीप से शायद एक ही घंटा पर सरकार की तरफ़ से कोई कभी गोपालपुरा नहीं आया। व्यस्त रहते हैं सरकारी अधिकारी। फिर एक ज़िले में कलेक्टर के नीचे न जाने कितने ढेर सारे गांव आते होंगे। पर कभी जन अधिकारियों ने यह भी सोचा होगा कि

इतने सारे गांवों में ऐसे गांव कितने होते होंगे जो अपना जंगल ख़ुद लगाने की इजाज़त मांगते हैं? अलवर प्रशासन के सामने शायद गोपालपुरा के अलावा ऐसी कोई दूसरी अर्ज़ी तो नहीं आई थी।

एक घंटे की दूरी से कोई नहीं आ पाया, गांव का जंगल देख कर उसकी इजाज़त देने। पर इस बीच अकाल आ गया। पौधों को बचाना मुश्किल हो गया। बहुत से पौधे मर भी गए। फिर भी लोगों ने हिम्मत नहीं हारी। बचे-खुचे पौधों की रखवाली करते रहे। फिर बरसात भी आ गई। अपने और पास-पड़ोस के गांव के पशुओं से इलाक़े को बचाए चले जाने के कारण उस हिस्से में कहने लायक़ जंगल शायद नहीं खड़ा हो पाया पर आसपास और दूर-दूर की उजाड़ पहाड़ियों के बीच एक छोटा-सा हरा धब्बा ज़रूर दिखने लगा था।

गोपालपुरा के अवैध तालाब और पेड़-पौधों के प्रसंग को कुछ देर यहीं छोड़ कर थोड़ी देर के लिए अलवर से बाहर निकल आएं। ज़िले के साथ ही लगा है हरियाणा का नूह इलाक़ा। इस प्रसंग के काफ़ी पहले नूह में पत्थर की खदानों में कुछ बंधुआ मज़दूर मिले थे। उनको मुक्त कराने का श्रेय बंधुआ मुक्ति मोर्चे को जाता है। मोर्चे ने उन्हें अलवर प्रशासन को सौंप दिया, क्योंकि वे अलवर ज़िले के ही थे। पिछले कुछ वर्षों में सरकारों ने बंधुआ मुक्ति का ख़ूब ढोल पीटा है। पोल न खुले, इसलिए ज़िला प्रशासन ने इन छह परिवारों को स्वीकार तो कर लिया पर उन्हें कहां कैसे बसाएगी यह सोचते-सोचते कई दिन बीत गए। दो-चार जगह खोजी गईं पर कहीं दमदार आबादी के कारण तो कहीं वन विभाग की ज़मीन के क़ानूनों के कारण वह उन्हें ठीक से बसा नहीं पा रही थी। सिर पर अनिश्चित भविष्य का पूरा बोझा उठाए इधर-उधर मारे-मारे फिर रहे इन परिवारों का संपर्क एक बार तरुण भारत संघ से भी हुआ। संघ ने तब अपने सीमित साधनों से कुछ बचा

कर उनके लिए गल्ले का भी कुछ इंतज़ाम किया था पर यह बात न बंधुआ मुक्ति मोर्चा को पता चली, न ज़िला प्रशासन को। सिर्फ़ इसलिए कि छोटी-सी ग्रामीण संस्था ने इसे अपना कर्तव्य समझ कर किया था, अपना प्रचार करने के लिए नहीं।

वापस लौटें गोपालपुरा के वन पर। इस बीच शायद संस्था और गांव ने प्रशासन से वन वाली ज़मीन पर फ़ैसला लेने का भी अनुरोध एकाधिक बार किया होगा। शायद प्रशासन की कुछ मजबूरी रही होगी कि ऐसी इजाज़त कहीं एक बार दे बैठे तो न जाने कितने गांव वन लगाने के लिए ज़मीन मांगने लगेंगे। तेज़ी से घट रहे वन क्षेत्र को फिर से संतुलित करने के लिए ऐसी मांग ठीक भी हो सकती थी शायद। बार-बार शायद लिखने की ज़रूरत नहीं है शायद। पर राज चलाना कोई खेल तो नहीं है। गांव वाले इसी तरह अपने पेड़ खुद लगाने लग जाएं तो फिर सरकार इस मोर्चे पर क्या करेगी। लोगों की भागीदारी फ़ाइलों में ही शोभा देती है।

भीतर-भीतर क्या हुआ यह तो कोई खोजी पत्रकार ही निकाल सकता था। इसलिए यह पेचीदा काम उन्हीं पर छोड़ आगे बढ़ें। थानागाजी तहसील के तहसीलदार ने एक दिन सुबह गांव गोपालपुरा को नोटिस भेज कर देश के वनीकरण के इतिहास में दर्ज होने लायक़ काम कर दिखाया। नोटिस में कहा गया था कि गांव ने बिना इजाज़त के पेड़ लगाए हैं इसलिए उस पर 4995 रुपए का दंड किया जाता है।

संस्था के लोग घबरा कर दिल्ली आए। यहां पर्यावरण का काम कर रही एक संस्था से मिले। संस्था ने दिल्ली के एक अंग्रेज़ी अख़बार से बात की और दूसरे दिन उस के पहले पेज पर इस भद्दे नोटिस की ख़बर छपवाई-'जहां पेड़ लगाना अपराध है'। इस विचित्र ख़बर को पढ़ने वाले हज़ारों पाठकों में उस दिन प्रधानमंत्री सचिवालय के कोई अधिकारी

भी थे। उन्होंने अपने प्रभावशाली दफ़्तर से राजस्थान के मुख्य सचिव आदि को खटखटाया, पूछा कि यह सब बेवक़ूफ़ी कैसे हो गई? ऐसे मौक़ों पर जो खलबली मचती है, वह सब मच गई। कलेक्टर वग़ैरह सभी सकते में आ गए।

तब न जाने किस स्तर पर किसके दिमाग़ में एक ग़लती को सुधार लेने के बदले में और कुछ नई ग़लतियां कर लेने की बात घुस गई। रातोंरात फ़ैसला ले लिया गया कि गोपालपुरा की इसी विवादास्पद ज़मीन पर उन छह बंधुआ परिवारों को बसा दिया जाए, जिनके बारे में प्रशासन अभी तक कुछ सोच ही नहीं पाया था। बंधुआ-पुनर्वास की ढाल ढल चुकी थी। सुबह गोपालपुरा के उसी हिस्से में जहां लोगों ने दीवारबंदी करके पौधे लगाए थे, दीवार तोड़ कर बंधुआ परिवार बसाए गए।

इस बीच दिल्ली के पांच-छह बड़े अख़बारों ने 'जहां पेड़ लगाना जुर्म है' ख़बर पर संपादकीय लिख डाले। जब दिल्ली के अख़बारों में यह सब लिखा-पढ़ा जा रहा था, तब बंधुआओं के बसाने के लिए उस गांव के वन की दीवार तोड़ कर भीतर उनके लिए रहने की जगह बनाने, कटाई-छटाई शुरू हो चुकी थी। उस कटाई-छटाई की ख़बरें भी दिल्ली आ गईं और अख़बारों में छप गया कि प्रशासन ने पुलिस संरक्षण में बंधुआ बसाए और गांव वालों के लगाए गए पेड़ कटवा दिए।

उधर अपने विरुद्ध ऐसा भयंकर प्रचार उठता देखकर अलवर प्रशासन घबरा तो गया फिर जल्दी ही उसने बंधुआ-ढाल से अपने बचाव की तैयारी कर ली और सरकारी सफ़ाई लेकर जीपें दिल्ली के अख़बारों की तरफ़ दौड़ा दीं। लेकिन अलवर से दिल्ली आने वाली सड़क पर दिल्ली से कुछ पत्रकार भी गोपालपुरा के लिए चल पड़े थे।

बस इसके आगे कीचड़-ही-कीचड़ है और उस कीचड़ में ऐसे-ऐसे

अख़बार वाले फिसलते दिखते हैं जिनके शौर्य से कहते हैं सरकारें थर्राती हैं। बंधुआओं की मुक्ति के लिए पूरे समर्पित भाव से काम कर रहे समाजसेवक भी न जाने किस दुविधा में यहां फिसल जाते हैं। परती ज़मीन को हरा-भरा करने के लिए पूरे देश में काम करने वाली प्रसिद्ध समाजसेवी संस्था भी इसमें टपकती है और प्रशासन के योग्यतम माने गए अधिकारी भी इसमें बिलटते हैं।

अचानक कलेक्टर की कोई जादू की छड़ी चलती है। पूरी घटना को एक नए दृष्टिकोण से देखा जाता है: गांव वाले, संस्था वाले बदमाश हैं, पेड़ नहीं लगे थे, वहां बस केवल कुछ झाड़ियां थीं, इधर-उधर दीवारबंदी थी तो बस ज़मीन पर नाजायज़ क़ब्ज़ा करने के लिए। गांव ने बंधुआओं को न बसने देने का यह षड्यंत्र रचा होगा। गांव पर प्रशासन के 'अत्याचार' से बेहद नाराज़ इस अख़बार का युवा पत्रकार अलवर में कलेक्टर और उनके साथियों पर बरस रहा था, कि उसे अचानक भीतर आने का संकेत मिलता है। शायद एकांत में अधिकारी उसे समझाते हैं- पूरा क़िस्सा एक बेमतलब की संस्था और बंधुआ विरोधी गांव का है जिसे पर्यावरण का रंग दिया जा रहा है और आप नाहक इनके चक्कर में पड़ रहे हो।

अगले दिन इस अख़बार के पहले पन्ने पर क़िस्सा छपता है। 'कहीं हम पर्यावरणवालों के चक्कर में भटक तो नहीं गए।' पूरे समाचार में गांव और संस्था की पिटाई करने की कोशिश होती है और बंधुआओं और सरकार का पक्ष लिया जाता है।

बाद का क़िस्सा लंबा है। उसे यहीं छोड़ दें। इतना ज़रूर लिखना होगा कि उसके बाद बंधुआओं को वहां 'बसा' कर उनके तमाम शुभचिंतक-पत्रकार, संपादक, प्रशासन और बंधुआओं को आज़ाद करवाने वाले समाजसेवक–कोई इस जगह नहीं आता। ऊबड़-खाबड़ पथरीली

और उजाड़ जगह पर वे बंधुआ भगवान भरोसे छोड़ दिए जाते हैं। लेकिन सब तरफ़ से पिट चुका गांव और वहां की छोटी-सी संस्था इस सब अपमान के बाद भी अपना कर्तव्य नहीं भूलती। अपने वन के उजड़ने का दुख भूल कर वह इन छह परिवारों को गांव के अतिथि की तरह स्वीकार करती है। गांव से उनका एका कराती है। बरसात के दिनों में जब उनकी कच्ची झोपड़ियों के आसपास सांप वग़ैरह निकलने लगते हैं तो ऊपर सोने के लिए कुछ खाटों का इंतज़ाम करती है। बच्चों के बीच कपड़े और परिवारों के लिए एक बार फिर गल्ले का इंतज़ाम करती है। जिस गांव और संस्था को उनका दुश्मन बता दिया था—आज वही गांव और संस्था उनके दुखों में काम आ रहे हैं।

बंधुआ बस नहीं पाए हैं। कोई योजना ही नहीं बनी उनके लिए। पक्के घर बना कर देने की बात थी। उसमें भी कमज़ोर सामान लगाया गया। एक घर की छत गृहप्रवेश से पहले ही गिर गई। डर के मारे बाक़ी सारे लोग भी अपने घरों में नहीं गए। अब सामान वग़ैरह भीतर रख दिया है मगर डर बना रहता है। गांव का वन और मन उजाड़ कर सरकार ने बंधुआ बसाए थे यह कह कर कि यहां वे खेती करके शानदार नए जीवन की शुरुआत करेंगे। एक बरस बीत गया है। उस ज़मीन को खेत में बदलने की गुंजाइश होती तो बंधुआ खेती कर ही लेते। पर सभी परिवारों के पुरुष रोज़गार की तलाश में यहां-वहां भटक रहे हैं।

एक बात और। जिस गांव को बंधुआओं के ख़िलाफ़ खड़ा घोषित किया गया था वह गांव ऊंचे ज़मींदारों और बड़े किसानों का नहीं, बिल्कुल दीन-हीन वनवासियों का गांव है। शायद ज़्यादातर परिवारों की हालत बंधुआओं जैसी ही होगी।

यह सब कोई गड़े मुर्दे उखाड़ने के लिए नहीं लिखा जा रहा। जिन लोगों की ग़लती से एक गांव को ज़िंदा दफ़नाने दिया गया था, उसकी

पहली बरसी पर इस सबको याद किया जा रहा है तो सिर्फ़ इसलिए कि ये सब लोग इस मौक़े पर दुबारा उस गांव में जाएं। एक बरस पहले जिन्होंने बढ़ चढ़कर कहा था, लिखा था वे अब ठंडे दिमाग़ से अपने किए को देखें। वहां घूमें, संस्था से, गांव से, बंधुआओं से मिलें। उस मलबे को हटाएं, जिसके नीचे एक ग्रामीण पहल ज़िंदा दफ़न हो गई थी। अभी कुछ दिन बाक़ी हैं बरसी के। पक्की तारीख़ बताना ज़रूरी नहीं। जिन्हें गोपालपुरा जाना चाहिए उन्हें तारीख़ अच्छी तरह से याद है। वे सब अकेले ही जाएं, पर्यावरण वालों को साथ नहीं लें। फिर उन्हें कोई बहकाएगा नहीं। वहां जाकर उन्हें पता चल सकेगा कि न बंधुआ बसे, न पेड़ बचे।

गौना तालः प्रलय का शिलालेख

सन् 77 की जुलाई का तीसरा हफ़्ता। चमोली ज़िले (उत्तरप्रदेश) की बिरही घाटी में आज एक अजीब-सी ख़ामोशी है। यों तीन दिन से लगातार पानी बरस रहा है और इस कारण अलकनंदा की सहायक नदी बिरही का जल स्तर भी बढ़ता जा रहा है। उफनती पहाड़ी नदी की तेज़ आवाज़ पूरी घाटी में टकरा कर गूंज भी रही है। फिर भी चमोली-बदरीनाथ मोटर सड़क से बाईं तरफ़ लगभग 22 किलोमीटर दूर 6500 फ़ुट की ऊंचाई पर बनी इस घाटी के 13 गांवों के लोगों को आज सब कुछ शांत-सा लग रहा है। आज से सिर्फ़ सात बरस पहले ये लोग प्रलय की गर्जना सुन चुके थे, देख चुके थे। इनके घर, खेत व ढोर उस प्रलय में बह चुके थे। उस प्रलय की तुलना में आज बिरही नदी का शोर इन्हें डरा नहीं रहा था। कोई एक मील चौड़ी और पांच मील लंबी इस घाटी में चारों तरफ़ बड़ी-बड़ी शिलाएं, पत्थर, रेत और मलबा भरा हुआ है, इस सब के बीच से किसी तरह रास्ता बना कर बह रही बिरही नदी सचमुच बड़ी गहरी लगती है।

लेकिन सन् 70 की जुलाई का तीसरा हफ़्ता ऐसा नहीं था। तब यहां यह घाटी नहीं थी, इसी जगह पर पांच मील लंबा, एक मील चौड़ा और कोई तीन सौ फ़ुट गहरा एक विशाल ताल था--गौना ताल। ताल

के एक कोने पर गौना गांव था और दूसरे कोने पर दुरमी गांव, इसलिए कुछ लोग इसे दुरमी ताल भी कहते थे। पर बाहर से आने वाले पर्यटकों के लिए यह बिरही ताल था, क्योंकि चमोली–बदरीनाथ मोटर–मार्ग पर बने बिरही गांव से ही इस ताल तक आने का पैदल रास्ता शुरू होता था। ताल के ऊपरी हिस्से में त्रिशूल पर्वत की शाखा कुंवारी पर्वत से निकलने वाली बिरही समेत अन्य छोटी–बड़ी चार नदियों के पानी से ताल में पानी भरता रहता था। ताल के मुंह से निकलने वाले अतिरिक्त पानी की धारा फिर से बिरही नदी कहलाती थी। जो लगभग 18 किलोमीटर के बाद अलकनंदा में मिल जाती थी। सन् 70 की जुलाई के तीसरे हफ़्ते ने इस सारे दृश्य को एक ही क्षण में बदल कर रख दिया।

दुरमी गांव के प्रधानजी उस दिन को याद करते हैं, "तीन दिन से लगातार पानी बरस रहा था। पानी तो इन दिनों में हमेशा ही गिरता है, पर उस दिन की हवा कुछ और थी। ताल के पिछले हिस्से से बड़े–बड़े पेड़ बह–बह कर ताल के चारों ओर चक्कर काटने लगे थे, ताल में उठ रही लहरें उन्हें तिनकों की तरह यहां-से-वहां, वहां-से-यहां फेंक रही थीं। देखते–देखते सारा ताल पेड़ों से ढंक गया। अंधेरा हो चुका था, हम लोग अपने–अपने घरों में बंद हो गए। घबरा रहे थे कि आज कुछ अनहोनी होकर रहेगी।" ख़बर भी करते तो किसे करते? ज़िला प्रशासन उनसे 22 किलोमीटर दूर था। घने अंधेरे ने इन गांव वालों को उस अनहोनी का चश्मदीद गवाह न बनने दिया। पर इनके कान तो सब सुन रहे थे। प्रधानजी बताते हैं।

"रात भर भयानक आवाज़ें आती रहीं फिर एक ज़ोरदार गड़गड़ाहट हुई और फिर सब कुछ ठंडा पड़ गया।" ताल के किनारे की ऊंची

चोटियों पर बसने वाले इन लोगों ने सुबह के उजाले में पाया कि गौना ताल फूट चुका है, चारों तरफ़ बड़ी-बड़ी चट्टानें हज़ारों पेड़ों का मलबा, और रेत-ही-रेत पड़ी है।

ताल की पिछली तरफ़ से आने वाली नदियों के ऊपरी हिस्सों में जगह-जगह भूस्खलन हुआ था, उसके साथ सैकड़ों पेड़ उखड़-उखड़ कर नीचे चले आए थे। इस सारे मलबे को, टूट कर आने वाली बड़ी-बड़ी चट्टानों को गौना ताल अपनी 300 फ़ुट की गहराई में समाता गया, सतह ऊंची होती गई, और फिर लगातार ऊपर उठ रहे पानी ने ताल के मुंह पर रखी एक विशाल चट्टान को उखाड़ फेंका और देखते-ही-देखते सारा ताल ख़ाली हो गया। घटना स्थल से लगभग तीन सौ किलोमीटर नीचे हरिद्वार तक इस का असर पड़ा था।

गौना ताल ने एक बहुत बड़े प्रलय को अपनी गहराई में समो कर उसका छोटा सा अंश ही बाहर फेंका था। उसने सन्' 70 में अपने आप-को मिटा कर उत्तराखंड, तराई और दूर मैदान तक एक बड़े हिस्से को बचा लिया था। वह सारा मलबा उसके विशाल विस्तार और गइराई में न समाया होता तो सन् 70 की बाढ़ की तबाही के आंकड़े कुछ और ही होते। लगता है गौना ताल का जन्म बीसवीं सदी के सभ्यों की मूर्खताओं से आने वाले विनाश को थाम लेने के लिए ही हुआ था।

ठीक आज की तरह ही सन् 1893 तक यहां गौना ताल नहीं था। उन दिनों भी यहां यह विशाल घाटी ही थी। सन् 93 में घाटी के संकरे मुंह पर ऊपर से एक विशाल चट्टान गिर कर अड़ गई थी। घाटी की पिछली तरफ़ से आने वाली बिरही और उसकी सहायक नदियों का पानी मुंह पर अड़ी चट्टान के कारण धीरे-धीरे गहरी घाटी में फैलने लगा। अंग्रेज़ों का ज़माना था, प्रशासनिक क्षमता में वे सन् 1970 के प्रशासन से ज़्यादा कुशल साबित हुए। उस समय जन्म ले रहे गौना

ताल के ऊपर बसे एक गांव में तारघर स्थापित किया और उसके माध्यम से ताल के जल स्तर की प्रगति पर नज़र रखे रहे। एक साल तक वे नदियां ताल में पानी भरती रहीं। जलस्तर लगभग 100 गज़ ऊंचा उठ गया। तारघर ने ख़तरे का तार नीचे भेज दिया। बिरही और अलकनंदा के किनारे नीचे दूर तक ख़तरे की घंटी बज गई। ताल सन् 1894 में फूट पड़ा, पर सन् 1970 की तरह एकाएक नहीं। किनारे के गांव ख़ाली करवा लिए गए थे, प्रलय को झेलने की तैयारी थी। फूटने के बाद 400 गज़ का जल स्तर 300 फ़ुट मात्र रह गया था। ताल सिर्फ़ फूटा था, पर मिटा नहीं था। गोरे साहबों का संपर्क न सिर्फ़ ताल से बल्कि उसके आसपास की चोटियों पर बसे गांवों से भी बना रहा। उन दिनों एक अंग्रेज़ अधिकारी महीने में एक बार इस दुर्गम इलाक़े में आकर स्थानीय समस्याओं और झगड़ों को निपटाने के लिए एक कोर्ट लगाता था। विशाल ताल साहसी पर्यटकों को भी न्यौता देता था। ताल में नावें चलती थीं।

आज़ादी के बाद भी नावें चलती रहीं। सन् 60 के बाद ताल से 22 किलोमीटर की दूरी में गुज़रने वाली हरिद्वार बदरीनाथ मोटर-सड़क बन जाने से पर्यटकों की संख्या भी बढ़ गई। ताल में नाव की जगह मोटर वोट ने ले ली। ताल में पानी भरने वाली नदियों के जलागम क्षेत्र कुंआरी पर्वत के जंगल भी सन् '60 से 70' के बीच में कटते रहे। ताल से प्रशासन का संपर्क सिर्फ़ पर्यटन के विकास के नाम पर क़ायम रहा—वह ताल के इर्द-गिर्द बसे 13 गांवों को धीरे-धीरे भूलता गया। मुख्य मोटर सड़क से ताल तक पहुंचने के लिए (गांवों तक नहीं) 22 किलोमीटर लंबी एक सड़क भी बनाई जाने लगी। सड़क अभी 12 किलोमीटर ही बन पाई थी कि सन् 70 की जुलाई का वह तीसरा हफ़्ता आ गया। ताल फूट जाने के बाद सड़क पूरी करने की ज़रूरत ही नहीं

समझी गई। सन् 1894 में गौना ताल के फटने की चेतावनी तार से भेजी थी, पर सन् 1970 में ताल फटने की ही ख़बर लग पाई।

बहरहाल, अब यहां गौनाताल नहीं है। पर उसमें पड़ी बड़ी-बड़ी चट्टानों पर पर्यावरण का एक स्थायी शिलालेख खुदा हुआ है। इस क्षेत्र में चारों तरफ़ बिखरी चट्टानें हमें बताना चाहती हैं कि जंगलों ख़ासकर नदियों के जलागम क्षेत्र में खड़े जंगलों का हमारे पर्यावरण पर क्या असर पड़ता है। पर हम 'शिलालेख' को पढ़ने के लिए तैयार नहीं हैं। लेकिन उत्तराखंड का 'चिपको' आंदोलन न केवल इस 'शिलालेख' को पढ़ चुका है, वह अपनी सीमित शक्ति और अति सीमित साधनों से इस की हिदायतों पर अमल भी कर रहा है।

जुलाई के तीसरे हफ़्ते में आंदोलन के कार्यकर्ताओं की एक टुकड़ी लगातार बारिश के बीच गौना ताल तक पहुंची और उसने ताल के मलबे के बीच से बह रही बिरही नदी के किनारे-किनारे मजनूं नामक एक पेड़ की कोई तीन हज़ार क़लमें रोपीं... मजनूं (विलों) के पेड़ में नदी के किनारों को बांध कर रखने का विशेष गुण है। इस इलाक़े में मजनूं का पेड़ पहली बार ही लगाया गया है। आंदोलन के कार्यकर्ताओं का पर्यावरण-प्रेम इस विलक्षण पौधे को कश्मीर की घाटी से खोजकर लाया था। कश्मीर में इस पेड़ के गुणों से परिचित होने के बाद आंदोलन के कार्यकर्ता इसका एक पौधा चमोली जिले में लाए थे। चूंकि इसकी क़लमें लगती हैं, इसलिए उस एक पेड़ की टहनियों से कई क़लमें बना ली गईं और उन्हें गौना ताल के इलाक़े में रोपा गया। रोपण के लिए की गई यात्रा, तीन दिन तक रोपण करने वाली टुकड़ी के खाने-पीने आदि का सारा ख़र्च 'चिपको' आंदोलन को जन्म देने वाली संस्था दशौली ग्रामस्वराज्य संघ ने उठाया।

बरसात के इन कठिन दिनों में की गई इस यात्रा का उद्देश्य था—ताल

के आसपास बसे उन गांवों की सुध लेना जो बाढ़ के दिनों में प्रशासन से पूरी तरह कट जाते हैं।

गाड़ी, सैंजी, निजमुला, अडुंग, बेरा, गौना, धारकुमार, पगना, दुरमी, झैंजी, मनोरा, पाणा और ईरानी नामक इन तेरह गांवों में यदि इन दिनों जीवन 'सामान्य' दीखता है तो उसका एक ही कारण है—इनकी सहनशक्ति। निजमुला गांव में राशन की एक दुकान थी, जो मुख्य गांव के अलावा गौना, अडुंग और धारकुमार की आबादी के लिए सस्ता गल्ला बेचती थी। इसी तरह पगना, ईरानी, दुरमी, पाणा, मनोरा और झैंली गांव के लिए बेरा में राशन मिलता था। पर इस साल दोनों दुकानें बंद हो गई हैं। दुकानदारों का कहना है कि उन्हें घाटा हो रहा था। ऊंचाई के इन गांवों तक गल्ला खच्चरों की पीठ पर लदकर आता था। शासन प्रति क्विंटल दस रुपए की ढुलाई मंजूर करता है। पर बरसात के दिनों में ख़तरा बढ़ जाने के कारण खच्चर वाले प्रति क्विंटल तीस रुपए ढुलाई वसूल करते हैं। इसलिए दुकानदारों ने ये दुकानें बंद कर दी हैं। अब इन गांव के लोगों को राशन लेने मुख्य सड़क पर बसे बिरही गांव तक आना पड़ता है। इन तेरह गांवों से बिरही गांव की दूरी पांच किलोमीटर से तीस किलोमीटर तक है। इसमें भी सात हज़ार फुट ऊंचा जंगल चढ़ना और उतरना पड़ता है। बरसात के दिनों में जंगल के इन पैदल रास्तों में भारी मात्रा में जोंक पैदा होती है। नंगे पैर वालों की तो बात ही अलग, जूते मोजे पहनकर जंगल पार करने वालों के पैर भी जोंक चिपक जाने से लहू-लूहान हो जाते हैं।

ऐसे रास्तों से होकर बिरही जाने वाला आदमी एक बार में 10-15 किलो से ज़्यादा वजन का राशन नहीं ले जा पाता। कुछ गांवों से बिरही तक आने-जाने में तीन दिन लग जाते हैं। तीन दिन की ऐसी कठोर यात्रा के बाद भी वह पंद्रह-बीस दिनों से ज़्यादा का राशन नहीं ले जा सकता। जिन परिवारों में कोई जवान नहीं है, उन परिवारों पर क्या बीतती होगी?

पागा और ईरानी गांव की हालत और भी ख़राब है। ये इस तरफ़ के अंतिम गांव हैं। बीच में बिरही नदी पड़ती है इसे पार करने के लिए यहां एक पैदल-पुल था, पर 70 की बाढ़ में यह भी बह गया। नया पुल स्वीकृत हुए पांच साल हो चुके हैं लेकिन अभी तक काम शुरू नहीं हो पाया है। इन दोनों गांव के लोग बरसात के दिनों में बिरही तक नदी पार कर के नहीं आ सकते। उन्हें पीछे के रास्ते से जोशीमठ तहसील के तपोवन गांव तक जाना पड़ता है। वहां तक आने-जाने का मतलब है छह से तेरह हज़ार फ़ुट की ऊंचाई पर लगभग 70 किलोमीटर की पैदल यात्रा।

गाड़ी गांव में रहने वाले आज़ाद हिंद फौज के एक भूतपूर्व सैनिक ने पिछले महीने सीधे प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर पूछा है, 'क्या आप हम तेरह गांवों के लोगों को भी अपनी प्रजा मानते हैं? यदि हां, तो हमारे लिए बाढ़ के इन दिनों में खाने-पीने का इंतज़ाम करवाइए। हम मुफ़्त में नहीं लेकिन उचित दाम और उचित दूरी पर राशन मांग रहे हैं। यदि आप राशन नहीं दिलवा सकते तो क्या हम पड़ोसी देश चीन के साथ राशन की बात कर लें?'

भूतपूर्व सैनिक के ग़ुस्से में दम है। बिरही की बाढ़ को उतरने में अभी एक महीना तक लग सकता है। इन चार हफ़्तों में यहां के प्रशासन को किसी भी क़ीमत पर सस्ता गल्ला बांटने की कोई स्थायी व्यवस्था कर देनी चाहिए और अगले बरस ऐसे असंख्य गांवों में बाढ़ आने से पहले ही ठीक मात्रा में राशन पहुंचाने की स्थायी व्यवस्था बना लेनी चाहिए। बाढ़ तो हर बरस आएगी—जब तक हम गौना ताल के मलबे पर लिखे शिलालेख को पढ़ नहीं पाएंगे, पढ़कर समझ नहीं पाएंगे।

साध्य, साधन और साधना

यह शीर्षक न तो अलंकार के लिए है, न अहंकार के लिए। सचमुच ऐसा लगता है कि समाज में काम कर रही छोटी-बड़ी संस्थाओं को, उनके कुशल संचालकों को, हम कार्यकर्ताओं को, और इस सारे काम को ठीक से चलाने के लिए पैसा जुटाने वाली उदारमना, देसी-विदेशी अनुदान संस्थाओं को आगे-पीछे इन तीन शब्दों पर सोचना तो चाहिए ही। साध्य-साधन पर तो कुछ बातचीत होती है, लेकिन इसमें साधना भी जुड़ना चाहिए।

साधन उसी गांव, मोहल्ले, शहर में जुटाए जाएं या कि सात समुंदर पार से आए—इसमें पर्याप्त मतभेद हो सकते हैं पर कम-से-कम साध्य तो हमारे हों। कुछ अपवाद छोड़ दें तो प्राय: होता यही है कि साधनों की बात तो दूर हम साध्य भी अपने नहीं देख पाते। यहां साध्य शब्द अपने संपूर्ण अर्थ में भी है और काम चलाऊ हल्के अर्थ में भी—यानी काम, लक्ष्य, कार्यक्रम आदि।

पर्यावरण विषय के सीमित अनुभव से मैं कुछ कह सकता हूं कि इस क्षेत्र में काम कर रही बहुत-सी संस्थाएं साध्य, लक्ष्य के मामले में लगातार थपेड़े खाती रही हैं। लोग भूले नहीं होंगे जब पर्यावरण के 'शेयर बाज़ार'

में सबसे ऊंचा दाम सामाजिक वानिकी का था। हम सब उसमें जुट गए, बिना यह बहस किए कि असामाजिक वानिकी क्या थी। फिर एक दौर आया बंजर भूमि विकास का। अंग्रेज़ी में यह 'वेस्टलैंड डेवलपमेंट' था। तब भी बहस नहीं हो पाई कि 'वेस्टलैंड' है क्या। ख़ूब साधन और समय इसी 'साध्य' में वेस्ट यानी बर्बाद हो गया। बंजर ज़मीन के विकास का सारा उत्साह अचानक अकाल मृत्यु को प्राप्त हो गया और उसके बदले हम सब फ़िलहाल 'वॉटरशेड डेवलपमेंट' में रम गए हैं। इस नए कार्यक्रम के हिंदी से सिंधी तक अनुवाद हो गए हैं—जलग्रहण क्षेत्र शब्द भी चल रहा है जलागम क्षेत्र भी। थोड़े देसी हो गए तो मराठी वालों ने 'पानलोट' विकास नाम रखा लिया है पर मूल में एक विचित्र वॉटरशेड की कल्पना ही है—इस सबके पीछे।

'ज्वाइंट फ़ॉरेस्ट मैनेजमेंट' दूसरा नया झंडा है। इसमें भी हमारी हिंदी प्रतिभा पीछे नहीं है—'संयुक्त वन प्रबंध कार्यक्रम' फल फूल रहा है। यदि हम अपनी संस्था को ज़मीन से जुड़ा मानते हैं तो हो सकता है हमें 'संयुक्त' शब्द पर आपत्ति हो, तब हम इसे 'सांझा' शब्द से पटकी खिला देते हैं—नाम कुछ भी रखें काम यानी साध्य वर्ल्ड बैंक—हिंदी में कहें तो विश्व बैंक—ने तय किया है। साधन भी उसी तरह की संस्थाओं से आ रहे हैं।

यह विवरण मज़ाक़ या व्यंग्य का विषय नहीं है। सचमुच दुख होना चाहिए हमें। इस नए काम की इतनी ज़रूरत यदि आ भी पड़े तो जे.एफ़.एम. यानी ज्वाइंट फ़ॉरेस्ट मैनेजमेंट का काम उठाते हुए हमें यह तो सोचना ही चाहिए कि इस 'ज्वाइंट' से पहले 'सोलो' मैनेजमेंट किसका था? कितने समय से था? वन विभाग ने अपने कंधों पर पूरे देश के वन प्रबंध का बोझ कैसे उठाया, उस बोझ को लेकर वह

कैसे लड़खड़ाया और उसकी उस लड़खड़ाहट की कितनी बड़ी क़ीमत पूरे देश के पर्यावरण ने चुकाई? ये वन समाज के किस हिस्से से कितनी निर्ममता से छीने गए और जब वनों का वह गर्वीला एकल वन प्रबंध सारे विदेशी अनुदानों के सहजे संभाले नहीं संभला तो अचानक 'संयुक्त' प्रबंध की याद कैसे आई? पल भर के लिए, झूठा ही सही, एकल वन प्रबंधकों को सार्वजनिक रूप से कुछ पश्चाताप तो करना ही चाहिए था, क्षमा मांगनी चाहिए थी और तब विनती करते कि अरे भाई यह तो बड़ा भारी बोझा है, हमारे अकेले के बस का नहीं, पिछली ग़लती माफ़ करो, जरा हाथ तो बंटाओ।

साधन और साध्य का यह विचित्र दौर पूरी तरह उधारीकरण कर रहा है। जो हालत पर्यावरण के सीमित विषय में रही है, वही समाज के अन्य महत्वपूर्ण विस्तृत क्षेत्रों में भी मिलेगी। महिला विकास, बाल विकास, महिला सशक्तीकरण, बंधुआ मुक्ति, महाजन मुक्ति, बाल श्रमिक, लघु या अल्प बचत, प्रजनन स्वास्थ्य 'गर्ल चाइल्ड' सब तरह के कामों में शर्मनाक रूप दिखते हैं—पर हम तो आंख मूंद कर इनको जपते जा रहे हैं।

यूरोप अमेरिका की सामाजिक टकसाल से जो भी शब्द-सिक्का ढलता है, वहां वह चले या न चले, हमारे यहां वह दौड़ता है। यह भी संभव है कि इनमें से कुछ काम ऐसे महत्वपूर्ण हों जो करने ही चाहिए। तो भी इतना तो सोचना चाहिए कि हम सबका ध्यान इन कामों पर पहले क्यों नहीं जाता?

सामाजिक कामों के इस 'शेयर बाज़ार' में सामाजिक संस्थाओं के साथ-साथ सरकारों की भी ग़ज़ब की भागीदारी है। केंद्र समेत सभी राज्यों की, सभी तरह की विचारधाराओं वाले सभी दलों की सरकारों में इस मामले में ग़ज़ब की सर्वसम्मति है। विश्व बैंक हर महीने कोई 200 पन्नों

का एक बुलेटिन निकालता है। इसमें पिछले महीने में पारित सभी देशों के राज्यों की विभिन्न सरकारों को दिए जाने वाले ऋण का विस्तृत ब्योरा रहता है। इसे देख लें—पक्का भरोसा हो जाएगा कि डॉलर विचार की करंसी में बदल गया है।

ऐसा नहीं कि सभी बिक गए हैं। इस वृत्ति से लड़ने वाले भी हैं। पर कई बार खलनायक से लड़ते-लड़ते हमारे नायक भी कुछ वैसे ही बन जाते हैं। आपातकाल को अभी एक पीढ़ी तो भूली नहीं है। उससे लड़कर, जीतकर सत्ता में आए हमारे श्रेष्ठ नायकों ने तब कोकाकोला जैसे लगभग सर्वव्यापी पेय को खदेड़ा था। बदले में उसी जैसे रंग का, वैसी ही बोतल में उतने ही प्रमाण का यानी चुल्लू भर पानी बनाकर उसका नाम कोकाकोला के बदले '77, (सतत्तर नहीं) डबल सेवन रखा—आपातकाल की स्मृति को समाज के मन में स्थायी रूप देने! यानी हमारे पास अपने कठिन दौर को याद रखने का इससे सरल कोई उपाय नहीं था। चलो यह भी स्वीकार है। कष्ट के दिनों को मनोरंजन के, शीतल पेय के माध्यम से ही याद रखते। पर हम उसे भी टिका नहीं पाए। डबल सेवन डूब गया, वे नायक भी डूबे। फिर कोकाकोला वापस आ गया, पहले से भी ज़्यादा जोश से और संयोग यह कि हमारे डूबे नायक भी फिर से वापस आ गए। 'सहअस्तित्व' का सुंदर उदाहरण है यह प्रसंग। तो साधनों की बहस हमें वहां ले जाएगी जब हम साध्य, लक्ष्य, अपने सामने खड़े काम, कार्यक्रम ही नहीं खोज पाएंगे। एक बार साध्य समझ लें तो फिर बाहर के साधन भी कोई उस तरफ़ मोड़ सकता है। तब ज़्यादा गुंजाइश वैसे इसी बात की होगी कि साध्य अपना होगा तो साधन भी फिर अपने सूझने लगते हैं।

इसका एक छोटा-सा उदाहरण जयपुर ज़िले के एक गांव का है। वहां

ग्राम के काम में लगी एक संस्था ने बाहर की मदद से ग़रीब गांव में पानी जुटाने के लिए कोई 30,000 रुपए ख़र्च कर एक तालाब बनवाया। फिर धीरे-धीरे लोगों से उसकी थोड़ी आत्मीयता बढ़ी। बातचीत चली तो गांव के एक बुज़ुर्ग ने कहा कि तालाब तो ठीक है पर ये गांव का नहीं, हमारा नहीं, सरकारी-सा दिखता है। पूछा गया कि यह अपना कैसे बनेगा। सुझाव आया कि इस पर पत्थर की एक छतरी स्थापित होनी चाहिए। पर वह तो बहुत महंगी होती है। लागत का अंदाज़ बिठाया तो उसकी क़ीमत तालाब की लागत से भी ज़्यादा निकली। संस्था ने बताया कि हम तो यह काम नहीं करवा सकते। हमारे पास तो तालाब के लिए अनुदान है, छतरी के लिए नहीं। गांव ने जवाब दिया कि छतरी के लिए संस्था से मांग ही कौन रहा है। ग़रीब माने गए गांव ने देखते-ही-देखते वह पहाड़-सी राशि चंदे से जमा की, अपना श्रम लगाया और तालाब की पाल पर गाजे बाजे, पूजा-अर्चना के साथ छतरी की स्थापना कर डाली।

कुछ को लगेगा कि यह तो फ़िज़ूलख़र्ची है। पर यह मकान और घर का अंतर है। समाज को पानी के केवल ढांचे नहीं चाहिए। समाज को ममत्व भी चाहिए। छतरी लगाने से तालाब सरकारी या संस्था का तकनीकी ढांचा न रहकर एक आत्मिक ढांचे में बदलता है। फिर उसकी रखवाली समाज करता है।

वैसे भी अंग्रेज़ों के आने से पहले देश के 5 लाख गांवों में, कुछ हज़ार क़स्बे, शहरों में, राजधानियों में कोई 20 लाख तालाब समाज ने बिना किसी 'वॉटर मिशन', 'वॉटरशेड डेवलमेंट' के अपने ही साधनों से बनाए थे। उनकी रखवाली, टूट-फूट का सुधार भी लोग ही करते थे। जरा कल्पना तो करें हम उस ढांचे के आकार की, प्रकार की, संख्या बल की, बुद्धि बल की, संगठन बल की, जो पूरे देश में पानी का प्रबंध करता

था—वह भी एक ऐसे देश में जहां चेरापूंजी से जैसलमेर जैसी विचित्र परिस्थिति थी।

तालाबों का यह छोटा-सा क़िस्सा बताता है कि साध्य अपना हो तो साधन भी अपने जुटते जाते हैं। हां उसके लिए साधना चाहिए। आज संस्थाएं पूरी दुनिया से बात करने के लिए जितनी उतावली दिखती हैं, उसकी आधी उतावली भी वे समाज से बात करने में लगाएं ('पार्टीसिपेटरी रिरार्च एपराईज़ल', 'पी.आर.ए.' वाली बात नहीं) तो यह साधना अपना रंग दिखा सकती है।

एक कहावत है बुंदेलखंड में : चुटकी भर ज़ीरे से ब्रह्मभोज। सिर्फ़ जीरा है वह भी चुटकी भर। न सब्ज़ी है, न दाल, न आटा पर ब्रह्मभोज हो सकता है। साध्य ऊंचा हो, साधना हो तो सब साधन जुट सकते हैं। हां चुटकी भर जीरे से 'पार्टी' नहीं हो सकेगी।

माटी, जल और ताप की तपस्या

मरुभूमि में बादल की हल्की-सी रेखा दिखी नहीं कि बच्चों की टोली एक चादर लेकर निकल पड़ती है। आठ छोटे-छोटे हाथ बड़ी चादर के चार कोने पकड़ उसे फैला लेते हैं। टोली घर-घर जाती है और गाती है:

डेडरियो करे डरूं, डरूं,
पालर पानी भरूं भरूं
आधी रात री तलाई नेष्टेई नेष्टे...

हर घर से चादर में मुट्ठी भर गेहूं डाला जाता है। कहीं-कहीं बाजरे का आटा भी। मोहल्ले की फेरी पूरी होते-होते, चादर का वज़न इतना हो जाता है कि आठ हाथ कम पड़ जाते हैं। चादर समेट ली जाती है। फिर यह टोली कहीं जमती है, अनाज उबाल कर उसकी गूगरी बनती है। कण-कण संग्रह बच्चों की टोली को तृप्त कर जाता है।

अब बड़ों की बारी है, बूंद-बूंद पानी जमा कर वर्ष भर तृप्त होने की। लेकिन राजस्थान में जल संग्रह की परंपरा समझने से पहले इस क्षेत्र से थोड़ा-सा परिचित हो जाना चाहिए।

राजस्थान की कुंडली कम-से-कम जल के मामले में 'मंगली' रही है। इसे अपने कौशल से मंगलमय बना लेना कोई सरल काम नहीं था।

काम की कठिनता के अलावा क्षेत्र का विस्तार भी कोई कम नहीं था। आज का राजस्थान क्षेत्रफल के हिसाब से देश का दूसरा बड़ा राज्य है। देश के कुल क्षेत्रफल का लगभग 11 प्रतिशत भाग या कोई 3,42,215 वर्ग किलोमीटर इसके विस्तार में आता है। इस हिसाब से दुनिया के कई देशों से भी बड़ा है हमारा यह प्रदेश। इंग्लैंड से तो लगभग दुगुना ही समझिए।

पहले छोटी-बड़ी इक्कीस रियासतें थीं, अब इकतीस ज़िले हैं। इनमें से तेरह ज़िले अरावली पर्वतमाला के पश्चिम में और अन्य पूर्व में हैं। पश्चिम भाग के तेरह ज़िलों के नाम इस प्रकार हैं: जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर, जोधपुर, जालौर, पाली, नागौर, चुरू, श्रीगंगानगर, सीकर, हनुमानगढ़, सिरोही तथा झुंझनूं। पूर्व और दक्षिण में बांसवाड़ा, डूंगरपुर, उदयपुर, कांकरोली, चित्तौड़गढ़, भीलवाड़ा, झालावाड़, कोटा, बारां, बूंदी, टौंक, सवाई माधोपुर, धौलपुर, दौसा, जयपुर, अजमेर, भरतपुर तथा अलवर ज़िले आते हैं। जैसलमेर राज्य का सबसे बड़ा ज़िला है। यह लगभग 38,400 वर्ग किलोमीटर में फैला है। सबसे छोटा ज़िला है धौलपुर जो जैसलमेर के दसवें भाग बराबर है।

आज के भूगोल वाले इस सारे हिस्से को चार भागों में बांटते हैं। मरुभूमि को पश्चिमी बालू का मैदान कहा जाता है या शुष्क क्षेत्र भी कहा जाता है। उससे लगी पट्टी अर्धशुष्क क्षेत्र कहलाती है। इसका पुराना नाम बागड़ था। फिर अरावली पर्वतमाला है और मध्यप्रदेश आदि से जुड़ा राज्य का भाग दक्षिणी-पूर्वी पठार कहलाता है। इन चार भागों में सबसे बड़ा भाग पश्चिमी बालू का मैदान यानी मरुभूमि का क्षेत्र ही है। इसका एक पूर्वी कोना उदयपुर के पास है, उत्तरी कोना पंजाब छूता है और दक्षिणी कोना गुजरात। पश्चिम में पूरा-का-पूरा भाग पाकिस्तान के साथ जुड़ा है।

मरुभूमि भी सारी मरुमय नहीं है। पर जो है, वह भी कोई कम नहीं। इसमें जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर, नागौर, चुरू और श्रीगंगानगर ज़िले समा जाते हैं। इन्हीं हिस्सों में रेत के बड़े-बड़े टीले हैं, जिन्हें धोरे कहा जाता है। गर्मी के दिनों में चलने वाली तेज़ आंधियों में ये धोरे 'पंख' लगा कर इधर-से-उधर उड़ चलते हैं। तब कई बार रेल की पटरियां, छोटी-बड़ी सड़कें और राष्ट्रीय मार्ग भी इनके नीचे दब जाते हैं। इसी भाग में वर्षा सबसे कम होती है। भूजल भी ख़ूब गहराई पर है। प्रायः सौ से तीन सौ मीटर और वह भी ज़्यादातर खारा है।

अर्धशुष्क कहलाने वाला भाग विशाल मरुभूमि और अरावली पर्वतमाला के बीच उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम तक लंबा फैला है। यहीं से वर्षा का आंकड़ा थोड़ा ऊपर चढ़ता है। तब भी यह 25 सेंटीमीटर से 50 सेंटीमीटर के बीच झूलता है और देश की औसत वर्षा से आधा ही बैठता है। इस भाग में कहीं-कहीं दोमट मिट्टी है तो बाक़ी में वही चिर परिचित रेत। 'मरु विस्तार' को रोकने की तमाम राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय योजनाओं को धता बताकर आंधियां इस रेत को अरावली के दर्रों से पूर्वी भाग में भी ला पटकती हैं। ये छोटे-छोटे दर्रे ब्यावर, अजमेर और सीकर के पास हैं।

इस क्षेत्र में ब्यावर, अजमेर, सीकर, झुंझुनूं ज़िले हैं और एक तरफ़ नागौर, जोधपुर, पाली, जालौर और चुरू का कुछ भाग आता है। भूजल यहां भी सौ से तीन सौ मीटर की गहराई लिए है और प्रायः खारा ही मिलता है।

यहां के कुछ भागों में एक और विचित्र स्थिति है: पानी तो खारा है ही, ज़मीन भी 'खारी' है। ऐसे खारे हिस्सों के निचले इलाक़ों में खारे पानी की झीलें हैं। सांभर, डेगाना, डीडवाना, पचपदरा, लूणकरणसर,

बाप, पोखरन और कुचामन की झीलों में तो बाक़ायदा नमक की खेती होती है। झीलों के पास मीलों दूर तक ज़मीन में नमक उठ आया है।

इसी के साथ है पूरे प्रदेश को एक तिरछी रेखा से नापती विश्व की प्राचीनतम पर्वतमालाओं में से एक माला अरावली पर्वत की। ऊंचाई भले ही कम हो पर उम्र में यह हिमालय से पुरानी है। इसकी गोद में हैं सिरोही, डूंगरपुर, उदयपुर, आबू, अजमेर और अलवर। उत्तर-पूर्व में यह दिल्ली को छूती है और दक्षिण-पश्चिम में गुजरात को। कुल लंबाई सात सौ किलोमीटर है और इसमें से लगभग साढ़े पांच सौ किलोमीटर राजस्थान को काटती है। वर्षा के मामले में राज्य का यह संपन्नतम इलाक़ा माना जाता है।

अरावली से उतर कर उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पूर्व तक फैला एक और भाग है। इसमें उदयपुर, डूंगरपुर के कुछ भाग के साथ-साथ बांसवाड़ा, भीलवाड़ा, बूंदी, टौंक, चित्तौड़गढ़, जयपुर और भरतपुर ज़िले हैं। मरुनायकजी यानी श्रीकृष्ण के जन्म स्थान ब्रज से सटा है भरतपुर। दक्षिणी-पूर्वी पठार भी इसमें फंसा दिखता है। इसमें कोटा, बूंदी, सवाई माधोपुर और धौलपुर हैं। धौलपुर से मध्यप्रदेश के बीहड़ शुरू हो जाते हैं।

यहां जिस तरह नीचे माटी का स्वभाव बदलता है, इसी तरह ऊपर आकाश का भी स्वभाव बदलता जाता है।

हमारे देश में वर्षा मानसूनी हवा पर सवार होकर आती है। मई-जून में पूरा देश तपता है। इस बढ़ते तापमान के कारण हवा का दबाव लगातार कम होता जाता है। उधर समुद्र में अधिक भार वाली हवा अपने साथ समुद्र की नमी बटोर कर कम दबाव वाले भागों की तरफ़ उड़ चलती है। इसी हवा को मानसून कहते हैं।

राजस्थान के आकाश में मानसून की हवा दो तरफ़ से आती है। एक

पास से, यानी अरब सागर से और दूसरी दूर बंगाल की खाड़ी से। दो तरफ़ से आए बादल भी यहां के कुछ हिस्सों में उतना पानी नहीं बरसा पाते, जितना वे रास्ते में हर कहीं बरसाते आते हैं।

दूर बंगाल की खाड़ी से उठने वाली मानसून की हवा गंगा का विशाल मैदान पार करते-करते अपनी सारी आर्द्रता खो बैठती है। राजस्थान तक आते-आते उसकी झोली में कुछ इतना बचता ही नहीं है कि वह राजस्थान को भी ठीक से पानी दे जा सके। अरब सागर से उठी मानसून की हवा जब यहां के तपते क्षेत्र में आती है तो यहां की गर्मी से उसकी आर्द्रता आधी रह जाती है। इसमें पूरे प्रदेश को तिरछा काटने वाली अरावली की भी भूमिका है।

अरावली दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व में फैली है। मानसून की हवा भी इसी दिशा में बहती है। इसलिए मानसून की हवा अरावली पार कर पश्चिम के मरुप्रदेश में प्रवेश करने के बदले अरावली के समानांतर बहती हुई वर्षा करती चलती है। इस पर्वतमाला में सिरोही और आबू में ख़ूब वर्षा होती है, कोई 150 सेंटीमीटर। यह मात्रा राज्य की औसत वर्षा से तिगुनी है। यह भाग अरावली के ऊंचे स्थानों में है, इसलिए मानसूनी हवा यहां टकरा कर अपना बचा ख़ज़ाना खाली कर जाती है। और मरुभूमि को अरावली के उस पार छोड़ कर चुक जाता है आज का भूगोल भी।

लेकिन मरुभूमि के समाज की भाषा माटी, वर्षा और ताप की इस नई वैज्ञानिक परिभाषा से बिल्कुल अलग है। इस समाज में माटी, वर्षा और ताप की तपस्या मिलेगी, और इस तप में जीवन का तेज़ भी है और शीतलता भी। फागुन महीने में होली पर अबीर-गुलाल के साथ ही यहां मरुनायकजी यानी श्रीकृष्ण पीली रेत उड़ाने लगते हैं। चैत माह आते-आते धरती तपने लगती है। नए भूगोल वाले जिस सूरज की गर्मी से यहां सबसे ज़्यादा आतंकित दिखते हैं, उस सूरज का यहां एक नाम पीथ है, और पीथ

का एक अर्थ यहां जल भी है। सूरज ही तो धरती पर सारे जल चक्र का, वर्षा का स्वामी है।

आषाढ़ के प्रारंभ में सूरज के चारों ओर दिखने वाला एक विशेष प्रभामंडल जलकूंडो कहलाता है। यह जलकूंडो वर्षा का सूचक माना जाता है। इन्हीं दिनों उदित होते सूर्य में माछलो, यानी मछली के आकार की एक विशेष किरण दिख जाए तो तत्काल वर्षा की संभावना मानी जाती है। समाज को वर्षा की जानकारी देने में चंद्रमा भी पीछे नहीं रहता। आषाढ़ में चंद्रमा की कला हल की तरह खड़ी रहे और श्रावण में वह विश्राम की मुद्रा में लेटी दिखे तो वर्षा ठीक होती है: ऊभो भलो आषाढ़, सूतो भलो सरावण। जलकूंडो, माछलो और चंद्रमा के रूपकों से भरा पड़ा है भडली पुराण। इस पुराण की रचना डंक नामक ज्योतिषाचार्य ने की थी। भडली उनकी पत्नी थीं, उन्हीं के नाम पर पुराण जाना जाता है। कहीं-कहीं दोनों को एक साथ याद किया जाता है। ऐसी जगहों में इसे डंक-भडली पुराण कहते हैं।

बादल यहां सबसे कम आते हैं, पर बादलों के नाम यहां सबसे ज़्यादा निकलें तो कोई अचरज नहीं। खड़ी बोली और बोली में ब और व के अंतर से, पुल्लिंग, स्त्रीलिंग के अंतर से बादल का वादल और वादली, बादलो, बादली है, संस्कृत से बरसे जलहर, जीमूत, जलधर, जलवाह, जलधरण, जलद, घटा, क्षर (जल्दी नष्ट हो जाते हैं), सारंग, व्योम, व्योमचर, मेघ, मेघाडंबर, मेघमाला, मुदिर, महीमंडल जैसे नाम भी हैं। पर बोली में तो बादल के नामों की जैसे घटा छा जाती है: भरणनद, पाथोद, धरमंडल, दादर, डंबर, दलवादल, घन, घणमंड, जलजाल, कालीकांठल, कालाहण, कारायण, कंद, हब्र, मैंमट, मेहाजल, मेघाण, महाघण, रामइयो और सेहर। बादल कम पड़ जाएं, इतने नाम हैं यहां

बादलों के। बड़ी सावधानी से बनाई इस सूची में कोई भी ग्वाला चाहे जब दो-चार नाम और जोड़ देता है!

भाषा की और उसके साथ-साथ इस समाज की वर्षा-विषयक अनुभव-संपन्नता इन चालीस, चवालीस नामों में समाप्त नहीं हो जाती। वह इन बादलों का उनके आकार, प्रकार, चाल-ढाल, स्वभाव के आधार पर भी वर्गीकरण करती है: सिखर है बड़े बादलों का नाम तो छीतरी हैं छोटे-छोटे लहरदार बादल। छितराए हुए बादलों के झुंड में कुछ अलग-थलग पड़ गया छोटा-सा बादल भी उपेक्षा का पात्र नहीं है। उसका भी एक नाम है—चूंखो। दूर वर्षा के वे बादल जो ठंडी हवा के साथ उड़ कर आए हैं, उन्हें कोलायण कहा गया है। काले बादलों की घटा के आगे-आगे श्वेत पताका-सी उठाए सफ़ेद बादल कोरण या कागोलड़ हैं। और इस श्वेत पताका के बिना ही चली आई काली घटा कांठल या कलायण है।

इतने सारे बादल हों आकाश में तो चार दिशाएं उनके लिए बहुत कम ही होंगी। इसलिए दिशाएं आठ भी हैं और सोलह भी। इन दिशाओं में फिर कुछ स्तर भी हैं। और इस तरह ऊंचाई पर, मध्य में और नीचे उड़ने वाले बादलों को भी अलग-अलग नाम से पुकारा जाता है। पतले और ऊंचे बादल कस या कसवाड़ हैं। नैऋत कोण से ईशान कोण की ओर थोड़े नीचे तेज़ बहने वाले बादल ऊंब हैं। घटा का दिन भर छाए रहना, थोड़ा-थोड़ा बरसना सहाड़ कहलाता है। पश्चिम के तेज़ दौड़ने वाले बादलों की घटा लोरां है और उनसे लगातार होने वाली वर्षा लोरांझड़ है। लोरांझड़ वर्षा का एक गीत भी है। वर्षा कर चुके बादल यानी अपना कर्तव्य पूरा करने के बाद किसी पहाड़ी पर थोड़ा टिक कर आराम करने वाले बादल रींछी कहलाते हैं।

काम में लगे रहने से आराम करने तक बादलों की ऐसी समझ रखने

वाला समाज, उन्हें इतना प्यार करने वाला समाज उनकी बूंदों को कितना मंगलमय मानता रहा होगा?

अभी तो सूरज ही बरस रहा है। जेठ के महीने में कृष्णपक्ष की ग्यारस से नौतपा प्रारंभ होते हैं। ये तिथियां बदलती नहीं, हां, कैलेंडर के हिसाब से ये तिथियां मई महीने में कभी दूसरे तो कभी तीसरे हफ़्ते में आती हैं। नौतपा, नवतपा—यानी धरती के ख़ूब तपने के नौ दिन। ये ख़ूब न तपें तो अच्छी वर्षा नहीं होती। इसी ताप की तपस्या से वर्षा की शीतलता आती है।

ओम-गोम, आकाश और धरती का, ब्रह्म और सृष्टि का यह शाश्वत संबंध है। तेज़ धूप का एक नाम घाम है, जो राजस्थान के अलावा बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश के कई इलाक़ों में चलता है। पर ओघमो शब्द राजस्थान में ही है—वर्षा से पहले की तपन। इन्हीं दिनों मरुभूमि में बलती यानी लू और फिर रेतीली आंधियां चलती हैं। ख़बरें छपती हैं कि इनसे यहां का जीवन 'अस्त-व्यस्त' हो गया है। रेल और सड़कें बंद हो गई हैं। पर अभी भी यहां लोग इन 'भयंकर' आंधियों को ओम-गोम का एक हिस्सा मानते हैं।

इसलिए मरुभूमि में जेठ को कोई कोसता नहीं। उन दिनों पूरे ढके शरीर में केवल चेहरा ही तो खुला रहता है। तेज़ बहती दक्खिनी हवा रेत उठा-उठा कर चेहरे पर मारती है। लेकिन चरवाहे, ग्वाले जेठ के स्वागत में गीत गाते हैं और ठेठ कबीर की शैली में साईं को जेठ भेजने के लिए धन्यवाद देते हैं: जेठ महीनो भलां आयो, दक्खन बाजे बा (हवा), कानों रे तो कांकड बाजे, वाड़े साईं वाह।

ऐसे भी प्रसंग हैं, जहां बारह महीने आपस में मिल बैठ बातें कर रहे हैं और हरेक महीना अपने को प्रकृति का सबसे योग्य बेटा बता रहा है। पर इस संवाद में बाज़ी मार ले जाता है जेठ का महीना। वही जेठू यानी

सबसे बड़ा भाई सिद्ध होता है। जेठ ठीक तपे नहीं, रेत के अंधड़ उठें नहीं तो 'जमानो' अच्छा नहीं होगा। जमानो यानी वर्षा काल। वर्षा, खेतीबाड़ी, और घास-चारे के हिसाब से ठीक स्थिति का दौर। इसी दौर में पीथ यानी सूरज अपना अर्थ बदलकर जल बनता है।

आउगाल से प्रारंभ होते हैं वर्षा के संकेत। मोहल्लों में बच्चे निकलेंगे चादर फैलाकर 'डेडरियो' खेलने और बड़े निकलेंगे 'चादरें' साफ़ करने। जहां-जहां से वर्षा का पानी जमा करना है, वहां के आंगन, छत और कुंडी के आगौर की सफ़ाई की जाएगी। जेठ के दिन बीत चले हैं। आषाढ़ लगने वाला है। पर वर्षा में अभी देरी है। आषाढ़ शुक्ल की एकादशी से शुरू होगा वरसाली या चौमासा। यहां वर्षा कम होती हो, कम दिन गिरती हो, पर समाज ने तो उसकी आवभगत के लिए पूरे चार महीने रोक कर रखे हैं।

समाज का जो मन कम आने वाले बादलों का इतने अधिक नामों से स्मरण करता हो, वह उनकी रजत बूंदों को कितने रूपों में देखता होगा, उन्हें कितने नामों से पुकारता होगा? यहां भी नामों की झड़ी लगी मिलेगी।

बूंद का पहला नाम तो हरि ही है। फिर मेघपुहुप है। वृष्टि और उससे बोली में आया बिरखा और व्रखा है। घन का, बादल का सार, घणसार है। एक नाम मेवलियो भी है। बूंदों की तो नाममाला ही है। बूला और सीकर जलकण के अर्थ में हैं। फुहार तथा छींटा शब्द सब जगह प्रचलित हैं। उसी से छांटो, छांटा-छड़को, छछोहो बने हैं। फिर नभ से टपकने के कारण टपका है, टपको और टीपो है। झरमर है, बूंदा-बांदी। यही अर्थ लिए पुणंग और जीखा शब्द हैं। बूंदा-बांदी से आगे बढ़ने वाली वर्षा की झड़ी रीठ और भोट है। यह झड़ी लगातार झड़ने लगे तो झंड़मंडण है।

चार मास वर्षा के और उनमें अलग-अलग महीने में होने वाली वर्षा के नाम भी अलग-अलग। हलूर है तो झड़ी ही, पर सावन-भादों की।

रोहाड़ ठंड में होने वाली छुटपुट वर्षा है। वरखावल भी झड़ी के अर्थ में वर्षावलि से सुधरकर बोली में आया शब्द है। मेहांझड़ में बूंदों की गति भी बढ़ती है और अवधि भी। झपटो में केवल गति बढ़ती है और अवधि कम हो जाती है--एक झपट्टे में सारा पानी गिर जाता है।

त्राट, त्रमझड़, त्राटकणो और धरहरणो शब्द मूसलाधार वर्षा के लिए हैं। छोल शब्द भी इसी तरह की वर्षा के साथ-साथ आनंद का अर्थ भी समेटता है। यह छोल, यह आनंद सन्नाटे का नहीं है। ऐसी तेज़ वर्षा के साथ बहने वाली आवाज़ सोक या सोकड़ कहलाती है। वर्षा कभी-कभी इतनी तेज़ और सोकड़ इतनी चंचल हो जाती है कि बादल और धरती की लंबी दूरी क्षण भर में नप जाती है। तब बादल से धरती तक को स्पर्श करने वाली धारावली यहां धारोलो के नाम से जानी जाती है।

न तो वर्षा का खेल यहां आकर रुकता है, न शब्दों का ही। धारोलो की बौछार बाहर से घर के भीतर आने लगे तो बाछड़ कहलाती है और इस बाछड़ की नमी से नम्र, नरम हुए और भीगे कपड़ों का विशेषण बाछड़वायो बन जाता है। धारोलो के साथ उठने वाली आवाज़ घमक कहलाती है। यह वज़नी है, पुल्लिंग भी। घमक को लेकर बहने वाली प्रचंड वायु वाबल है।

धीरे-धीरे वाबल मंद पड़ती है, घमक शांत होता है, कुछ ही देर पहले धरती को स्पर्श कर रहा धारोलो वापस बादल तक लौटने लगता है। वर्षा थम जाती है। बादल अभी छंटे नहीं हैं। अस्त हो रहा सूर्य उनमें से झांक रहा है। झांकते सूर्य की लंबी किरण मोघ कहलाती है और यह भी वर्षासूचक मानी जाती है। मोघ दर्शन के बाद रात फिर वर्षा होगी। जिस रात ख़ूब पानी गिरे, वह मामूली रैण नहीं, महारैण कहलाती है।

तूठणो क्रिया है बरसने की और उबरेलो है उसके सिमटने की। तब चौमासा उठ जाता है, बीत जाता है। बरसने से सिमटने तक हर गांव, हर

शहर अपने घरों की छत पर, आंगन में, खेतों में, चौराहों पर और निर्जन में भी बूंदों को संजो लेने के लिए अपनी 'चादर' फैलाए रखता है।

पालर यानी वर्षा के जल को संग्रह कर लेने के तरीक़े भी यहां बादलों और बूंदों की तरह अनंत हैं। बूंद-बूंद गागर भी भरती है और सागर भी—ऐसे सुभाषित पाठ्य पुस्तकों में नहीं, सचमुच अपने समाज की स्मृति में समाए मिलते हैं। इसी स्मृति से श्रुति बनी। जिस बात को समाज ने याद रखा, उसे आगे सुनाया और बढ़ाया और न जाने कब पानी के इस काम का इतना विशाल, व्यावहारिक और बहुत व्यवस्थित ढांचा खड़ा कर दिया कि पूरा समाज उसमें एक जी हो गया। इसका आकार इतना बड़ा कि राज्य के कोई तीस हज़ार गांवों और तीन सौ शहरों, क़स्बों में फैल कर वह निराकार-सा हो गया।

ऐसे निराकार संगठन को समाज ने न राज को, सरकार को सौंपा, न आज की भाषा में 'निजी' क्षेत्र को। उसने इसे पुरानी भाषा के निजी हाथ में रख दिया। घर-घर, गांव-गांव लोगों ने ही इस ढांचे को साकार किया, संभाला और आगे बढ़ाया।

पिंडवड़ी यानी अपनी मेहनत और अपने श्रम, परिश्रम से दूसरे की सहायता। समाज परिश्रम की, पसीने की बूंदें बहाता रहा है, वर्षा की बूंदों को एकत्र करने के लिए।

सन् 2000 में तीन शून्य भी हो सकते हैं!

अच्छे काम कहीं से भी, किसी भी दिन से शुरू किए जा सकते हैं। यदि मुहूर्त ही देखना है, वह भी सन् 2000 का तो पहली जनवरी से ही सही, अपने बिगड़ते पर्यावरण को सुधारने और उसे संवारने का काम शुरू किया जा सकता है। बीसवीं सदी में नहीं कर पाए तो चलिए इक्कीसवीं सदी में ही करें, पर करना तो पड़ेगा ही।

सन् 2000 में पूरे देश का, आपके हमारे शहर का, क़स्बे का, गांव का पर्यावरण कैसा होगा? शायद वैसा ही होगा जैसा वह 1999 में रहा है। 19-20 का अंतर पड़ सकता है 21वीं सदी में। उत्तर में जिन्हें निराशा का स्वर दिखता है, उनसे विनम्र अनुरोध है कि वे इस गंभीर विषय में कैलेंडर के जादू से दूजा कुछ नहीं देख पा रहे हैं।

31 दिसंबर 1999 की रात को लोग उसी तरह रजाई में दुबक कर सोए और उसी तरह अगले दिन सुबह उठे–जिस तरह वे इससे पहले सोते और जागते रहे हैं। तारीख़ ज़रूर बदली, 99 के बदले तीन शून्य। इससे ही पर्यावरण में कुछ बदलाव, सुधार आ जाएगा–इसकी गुंजाइश कम ही दिखती है। बिगड़ते पर्यावरण के मामले में बाक़ी सभी मामलों की तरह एक रात बीतने से अगले दिन, अगले दौर में कुछ अभूतपूर्व हो जाएगा

क्या? भास्कर अपनी दैनिक गतिविधि उसी तरह चलाएगा। मात्र कैलेंडर के पन्ने पलट कर हम अपना घटिया पर्यावरण नहीं बदल सकते।

"हमने कुछ किया है बदलने लायक़" इससे ज़्यादा ज़ोर इस बात पर है कि "कैलेंडर कुछ कर देगा बदलने लायक़"। इस आशा में हम कुछ समय ज़रूर बिता देंगे। और फिर समय बीतते क्या देर लगती है। जनवरी, फ़रवरी गई नहीं कि मार्च में देश के लगभग हर भाग में पानी का संकट ठीक 1999 की तरह पलट कर वापस आ जाएगा जो फिर सन् 2000 के मानसून से पहले मिटेगा नहीं।

तो क्या करें हम? अच्छा तो यही होगा कि तारीख़ या दिन गिनने के बदले हम अपने अच्छे कामों को गिनें। अच्छे काम कहीं से भी, किसी भी दिन से शुरू किए जा सकते हैं। यदि मुहूर्त ही देखना है, वह भी सन् 2000 का तो पहली जनवरी से ही सही, अपने बिगड़ते पर्यावरण को सुधारने और उसे संवारने का काम शुरू किया जा सकता है। बीसवीं सदी में नहीं कर पाए तो चलिए इक्कीसवीं सदी में ही करें, पर करना तो पड़ेगा ही।

अलवर (राजस्थान) के भांवता गांव ने सन् 2000 से कोई 13 वर्ष पहले अपने आसपास की पहाड़ियों पर, खेतों में गिरने वाली एक-एक बूंद को रोकने का काम शुरू किया था। अकाल का क्षेत्र था। कुओं में पानी 90 हाथ की गहराई पर। भांवता ने तरुण भारत संघ के साथ मिलकर अपने हिस्से का पानी रोकने के लिए पसीना बहाया। आज पूरा गांव छोटे तालाबों, बांधों से घिरा है। यहीं से एक नदी बहती है जो अब वर्ष भर सूखती नहीं। इन 13 वर्षों में भांवता गांव ने अतिवृष्टि से उत्पन्न एक बड़ी बाढ़ को भी झेला है और एक अकाल को भी—अकाल और बाढ़ के मामलों में सरकार करोड़ों रुपया फूंकती है पर भांवता जैसे कई गांवों ने सरकार को राहत दी है—एक पैसा भी ख़र्च नहीं करना पड़ा वहां।

आज इस छोटे से गांव में देश की जल संसाधन मंत्री बिना बुलाए वहां का काम देखने आई हैं। राष्ट्रपति भवन में भी भांवता के काम की गूंज है। भांवता का काम करने वाले दसवीं फेल श्री गोपाल सिंह राष्ट्रपति भवन में जल संकट दूर करने के लिए बुलाए गए हैं।

इसलिए कुछ समर्पण, कुछ अकल, कुछ पसीना चाहिए देश का पर्यावरण सुधारने के लिए। कैलेंडर के पन्ने भी जुड़ जाएं तो कोई हर्ज नहीं पर केवल कैलेंडर ताकते रहने से कुछ होगा नहीं। समय बीतते देरी नहीं लगती। सन् 2000 भी देखते-देखते आएगा-जाएगा। कुछ करेंगे नहीं तो पर्यावरण की हालत जैसी की तैसी ही नहीं, और भी ख़राब हो जाएगी। तब हमें सन् 2000 में तीन शून्य भी दिख सकेंगे। अच्छा हो हम इन शून्यों को भरने का काम करें।

साफ़ माथे का समाज

तालाब में पानी आता है, पानी जाता है। इस आवक-जावक का पूरे तालाब पर असर पड़ता है। वर्षा की तेज़ बूंदों से आगौर की मिट्टी धुलती है तो आगर में मिट्टी घुलती है। पाल की मिट्टी कटती है तो आगर में मिट्टी भरती है।

तालाब के स्वरूप के बिगड़ने का यह खेल नियमित चलता रहता है। इसलिए तालाब बनाने वाले लोग, तालाब बनाने वाला समाज तालाब के स्वरूप को बिगड़ने से बचाने का खेल भी उतने ही नियमपूर्वक खेलता रहा है। जो तालाब देखते-ही-देखते पिछले पचास-सौ बरस में नष्ट कर दिए गए हैं, उन तालाबों ने नियम से खेले गए खेलों के कारण ही कुछ सैकड़ों बरसों तक समाज का खेल ठीक से चलाया था।

पहली बार पानी भरा नहीं कि तालाब की रखवाली का, रख-रखाव का काम शुरू हो जाता था। यह आसान नहीं था। पर समाज को देश के इस कोने से उस कोने तक हज़ारों तालाबों को ठीक-ठाक बनाए रखना था, इसलिए उसने इस कठिन काम को हर जगह इतना व्यवथित बना लिया था कि यह सब बिल्कुल सहज ढंग से होता रहता था।

आगौर में क़दम रखा नहीं कि रख-रखाव का पहला काम देखने को

मिल जाएगा। देश के कई क्षेत्रों में तालाब का आगौर प्रारंभ होते ही उसकी सूचना देने के लिए पत्थर के सुंदर स्तंभ लगे मिलते हैं। स्तंभ को देखकर समझ लें कि अब आप तालाब के आगौर में खड़े हैं, यहीं से पानी तालाब में भरेगा। इसलिए इस जगह को साफ़-सुथरा रखना है। जूते आदि पहन कर आगौर में नहीं आना है, दिशा मैदान आदि की बात दूर, यहां थूकना तक मना रहा है। 'जूते पहन कर आना मना है', 'थूकना मना है' जैसे बोर्ड नहीं ठोंके जाते थे पर सभी लोग बस स्तंभ देखकर इन बातों का पूरा-पूरा ध्यान रखते थे।

आगर के पानी की साफ़-सफ़ाई और शुद्धता बनाए रखने का काम भी पहले दिन से ही शुरू हो जाता था। नए बने तालाब में जिस दिन पानी भरता, उस दिन समारोह के साथ उसमें जीव-जंतु लाकर छोड़े जाते थे। इनमें मछलियां, कछुए, केकड़े और अगर तालाब बड़ा और गहरा हो तो मगर भी छोड़े जाते थे। कहीं-कहीं जीवित प्राणियों के साथ सामर्थ्य के अनुसार चांदी या सोने तक के जीव-जंतु विसर्जित किए जाते थे। मध्य प्रदेश के रायपुर शहर में अभी कोई पचास-पचपन बरस पहले तक तालाब में सोने की नथ पहनाकर कछुए छोड़े गए थे।

पहले वर्ष में कुछ विशेष प्रकार की वनस्पति भी डाली जाती थी। अलग-अलग क्षेत्र में इनका प्रकार बदलता था पर काम एक ही था—पानी को साफ़ रखना। मध्य प्रदेश में यह गदिया या चीला थी तो राजस्थान में कुमुदिनी, निर्मली या चाक्षुष। चाक्षुष से ही चाकसू शब्द बना है। कोई एक ऐसा दौर आया होगा कि तालाब के पानी की साफ़-सफ़ाई के लिए चाकसू पौधे का चलन ख़ूब बढ़ गया होगा। आज के जयपुर के पास एक बड़े क़स्बे का नाम चाकसू है। यह नामकरण शायद चाकसू पौधे के प्रति कृतज्ञता जताने के लिए किया गया हो।

पाल पर पीपल, बरगद और गूलर के पेड़ लगाए जाते रहे हैं। तालाब

और इन पेड़ों के बीच उम्र को लेकर हमेशा होड़-सी दिखती थी। कौन ज़्यादा टिकता है--पेड़ या तालाब? लेकिन यह प्रश्न प्राय: अनुत्तरित ही रहा है। दोनों को एक दूसरे का लंबा संग इतना भाया है कि उपेक्षा के इस ताज़े दौर में जो भी पहले गया, दूसरा शोक में उसके पीछे-पीछे चला गया है। पेड़ कटे हैं तो तालाब भी कुछ समय में सूखकर पट गया है। और यदि पहले तालाब नष्ट हुआ है तो पेड़ भी बहुत दिन नहीं टिक पाए हैं।

तालाबों पर आम भी ख़ूब लगाया जाता रहा है, पर यह पाल पर कम, पाल के नीचे की ज़मीन में ज़्यादा मिलता है। छत्तीसगढ़ क्षेत्र में बहुत से तालाबों में शीतला माता का वास माना गया है और इसलिए ऐसे तालाबों की पाल पर नीम के पेड़ ज़रूर लगाए जाते रहे हैं। बिना पेड़ की पाल की तुलना बिना मूर्ति के मंदिर से भी की गई है।

बिहार और उत्तर प्रदेश के अनेक भागों में पाल पर अरहर के पेड़ लगाए जाते थे। इन्हीं इलाक़ों में नए बने तालाब की पाल पर कुछ समय तक सरसों की खली का धुआं किया जाता था ताकि नई पाल में चूहे आदि बिल बनाकर उसे कमज़ोर न कर दें।

ये सब काम ऐसे हैं, जो तालाब बनने पर एक बार करने पड़ते हैं, या बहुत ज़रूरी हो गया तो एकाध बार और। लेकिन तालाब में हर वर्ष मिट्टी जमा होती है। इसलिए उसे हर वर्ष निकालते रहने का प्रबंध सुंदर नियमों में बांध कर रखा गया था। कहीं साद निकालने के कठिन श्रम को एक उत्सव, त्योहार में बदल कर आनंद का अवसर बनाया गया था तो कहीं उसके लिए इतनी ठीक व्यवस्था कर दी गई कि जिस तरह वह चुपचाप तालाब के तल में आकर बैठती थी, उसी तरह चुपचाप उसे बाहर निकाल कर पाल पर जमा दिया जाता था।

साद निकालने का समय अलग-अलग क्षेत्रों में मौसम को देखकर

तय किया जाता रहा है। उस समय तालाब में पानी सबसे कम रहना चाहिए। गोवा और पश्चिम घाट के तटवर्ती क्षेत्रों में यह काम दीपावली के तुरंत बाद किया जाता है। उत्तर के बहुत बड़े भाग में नव वर्ष यानी चैत्र से ठीक पहले, तो छत्तीसगढ़, उड़ीसा, बंगाल, बिहार और दक्षिण में बरसात आने से पहले खेत तैयार करते समय।

आज तालाबों से कट गया समाज, उसे चलाने वाला प्रशासन तालाब की सफ़ाई और साद निकालने का काम एक समस्या की तरह देखता है और वह इस समस्या को हल करने के बदले तरह-तरह के बहाने खोजता है। इसके नए हिसाब से यह काम ख़र्चीला है। कई कलेक्टरों ने समय-समय पर अपने क्षेत्र में तालाबों से मिट्टी नहीं निकाल पाने का एक बड़ा कारण यही बताया है कि इसका ख़र्च इतना ज़्यादा है कि उससे तो नया तालाब बनाना सस्ता पड़ेगा। पुराने तालाब साफ़ नहीं करवाए गए और नए तो कभी बने ही नहीं। साद तालाबों में नहीं, नए समाज के माथे में भर गई है।

तब समाज का माथा साफ़ था। उसने साद को समस्या की तरह नहीं बल्कि तालाब के प्रसाद की तरह ग्रहण किया था। प्रसाद को ग्रहण करने के पात्र थे किसान, कुम्हार और गृहस्थ। इस प्रसाद को लेने वाले किसान प्रति गाड़ी के हिसाब से मिट्टी काटते, अपनी गाड़ी भरते और इसे खेतों में फैला कर उनका उपजाऊपन बनाए रखते। इस प्रसाद के बदले वे प्रति गाड़ी के हिसाब से कुछ नक़द या फ़सल का कुछ अंश ग्राम कोष में जमा करते थे। फिर इस राशि से तालाबों की मरम्मत का काम होता था। आज भी छत्तीसगढ़ में लद्दी निकालने का काम मुख्यतः किसान परिवार ही करते हैं। दूर-दूर तक साबुन पहुंच जाने के बाद भी कई घरों में लद्दी से सिर धोने और नहाने का चलन जारी है।

बिहार में यह काम उड़ाही कहलाता है। उड़ाही समाज की सेवा है,

श्रमदान है। गांव के हर घर से काम कर सकने वाले तालाब पर एकत्र होते थे। हर घर दो से पांच मन मिट्टी निकालता था। काम के समय गुड़ का पानी बंटता था। पंचायत में एकत्र हर्जाने की रक़म का एक भाग उड़ाही के संयोजन में ख़र्च होता था।

दक्षिण में धर्मादा प्रथा थी। कहीं-कहीं इस काम के लिए गांव की भूमि का एक हिस्सा दान कर दिया जाता था और उसकी आमदनी सिर्फ़ साद निकालने के लिए ख़र्च की जाती थी। ऐसी भूमि को कोडगे कहा जाता था।

राज और समाज मिलकर कमर कस लें तो फिर किसी काम में ढील कैसे आएगी। दक्षिण में तालाबों के रख-रखाव के मामले में राज और समाज का यह तालमेल ख़ूब व्यवस्थित था। राज के ख़ज़ाने से इस काम के लिए अनुदान मिलता था पर उसी के साथ हर गांव में इस काम के लिए एक अलग ख़ज़ाना बन जाए, ऐसा भी इंतज़ाम था।

हर गांव में कुछ भूमि, कुछ खेत या खेत का कुछ भाग तालाब की व्यवस्था के लिए अलग रख दिया जाता था। इस पर लगान नहीं लगता था। ऐसी भूमि मान्यम कहलाती थी। मान्यम से होने वाली बचत, आय या मिलने वाली फ़सल तालाब से जुड़े तरह-तरह के कामों को करने वाले लोगों को दी जाती थी। जितनी तरह के काम, उतनी तरह के मान्यम। जो काम जहां होना है, वहीं उसका प्रबंध किया जाता था, वहीं उसका ख़र्च जुटा लिया जाता था।

अलौति मान्यम से श्रमिकों के पारिश्रमिक की व्यवस्था की जाती थी। अर्णैकरण मान्यम पूरे वर्ष भर तालाब की देखरेख करने वालों के लिए था। इसी से उन परिवारों की जीविका भी चलती थी, जो तालाब की पाल पर पशुओं को जाने से रोकते थे। पाल की तरह

तालाब के आगौर में भी पशुओं के आने-जाने पर रोक थी। इस काम में भी लौग साल भर लगे रहते थे। उनकी व्यवस्था बंदेला मान्यम से की जाती थी।

तालाब से जुड़े खेतों में फ़सल बुवाई से कटाई तक पशुओं को रोकना एक निश्चित अवधि तक चलने वाला काम था। यह भी बंदेला मान्यम से पूरा होता था। इसे करने वाले पट्टी कहलाते थे।

सिंचाई के समय नहर का डाट खोलना, समय पर पानी पहुंचाना एक अलग ज़िम्मेदारी थी। इस सेवा को नीरमुनक्क मान्यम से पूरा किया जाता था। कहीं किसान पानी की बर्बादी तो नहीं कर रहे—इसे देखने वालों का वेतन कुलमकवल मान्यम से मिलता था। तालाब में कितना पानी आया है, कितने खेतों में क्या-क्या बोया गया है, किसे कितना पानी चाहिए—जैसे प्रश्न नीरघंटी या नीरुकुट्टी हल करते थे। यह पद दक्षिण में सिर्फ़ हरिजन परिवार को मिलता था। तालाब का जल स्तर देखकर खेतों में उसके न्यायोचित बंटवारे के बारीक़ हिसाब-किताब की विलक्षण क्षमता नीरुकुट्टी को विरासत में मिलती थी। आज के कुछ नए समाजशास्त्रियों का कहना है कि हरिजन परिवार को यह पद स्वार्थवश दिया जाता था। इन परिवारों के पास भूमि नहीं होती थी इसलिए भूमिवानों के खेतों में पानी के किसी भी विवाद में वे निष्पक्ष हो कर काम कर सकते थे। यदि सिर्फ़ भूमिहीन होना ही योग्यता का आधार था तो फिर भूमिहीन ब्राह्मण तो सदा मिलते रह सकते थे! लेकिन इस बात को यहीं छोड़ें और फिर लौटें मान्यम पर।

कई तालाबों का पानी सिंचाई के अलावा पीने के काम भी आता था। ऐसे तालाबों से घरों तक पानी लेकर आने वाले कहारों के लिए उरणी मान्यम से वेतन जुटाया जाता था।

उप्पार और वादी मान्यम से तालाबों की साधारण टूट-फूट ठीक

की जाती थी। वायक्कल मान्यम तालाब के अलावा उनसे निकली नहरों की देखभाल में ख़र्च होता था। पाल से लेकर नहरों तक पर पेड़ लगाए जाते थे और पूरे वर्ष भर उनकी सार-संभाल, कटाई, छंटाई आदि का काम चलता रहता था। यह सारी ज़िम्मेदारी मानल मान्यम से पूरी की जाती थी।

खुलगा मान्यम और पाटुल मान्यम मरम्मत के अलावा क्षेत्र में बनने वाले नए तालाबों की खुदाई में होने वाले ख़र्च संभालते थे।

एक तालाब से जुड़े इतने तरह के काम, इतनी सेवाएं वर्ष भर ठीक से चलती रहें—यह देखना भी एक काम था। किस काम में कितने लोगों को लगाना है, कहां से कुछ को घटाना है—यह सारा संयोजन करैमान्यम से पूरा किया जाता था। इसे कुलम वेट्टु या कंमोई वेट्टु भी कहते थे। दक्षिण का यह छोटा और साधारण-सा वर्णन तालाब और उससे जुड़ी पूरी व्यवस्था की थाह नहीं ले सकता। यह तो अथाह है। ऐसी ही या इससे मिलती-जुलती व्यवस्थाएं सभी हिस्सों में, उत्तर में, पूरब-पश्चिम में भी रही ही होंगी। पर कुछ काम तो गुलामी के उस दौर में टूटे और फिर विचित्र आज़ादी के इस दौर में फूटे समाज में यह सब बिखर गया।

लेकिन गैंगजी कल्ला जैसे लोग इस टूटे-फूटे समाज में बिखर गई व्यवस्था को अपने ढंग से ठीक करने आते रहे हैं।

नाम तो था गंगाजी पर फिर न जाने कैसे वह गैंगजी हो गया। उनका नाम स्नेह, आत्मीयता के कारण बिगड़ा या घिसा होगा लेकिन उनके शहर को कुछ सौ साल से घेर कर खड़े आठ भव्य तालाब ठीक व्यवस्था के टूटे जाने के बाद धीरे-धीरे आ रही उपेक्षा के कारण घिसने, बिगड़ने लगे थे। अलग-अलग पीढ़ियों ने उन्हें अलग-अलग समय में बनाया था, पर आठ में से छह एक शृंखला में बांधे गए थे। इनका रख-रखाव भी उन

पीढ़ियों ने श्रृंखला में बंध कर ही किया होगा। सार-संभाल की वह व्यवस्थित कड़ी फिर कभी टूट गई।

इस कड़ी के टूटने की आवाज़ गैंगजी के कान में कब पड़ी, पता नहीं। पर आज जो बड़े-बूढ़े फलौदी शहर में हैं, वे गैंगजी की एक ही छवि याद रखे हैं: टूटी चप्पल पहने गैंगजी सुबह से शाम तक इन तालाबों का चक्कर लगाते थे। नहाने वाले घाटों पर, पानी लेने वाले घाटों पर कोई गंदगी फैलाता दिखे तो उसे पिता जैसी डांट पिलाते थे।

कभी वे पाल का तो कभी नेष्टा का निरीक्षण करते। कहां किस तालाब में कैसी मरम्मत चाहिए—इसकी मन-ही-मन सूची बनाते। इन तालाबों पर आने वाले बच्चों के साथ खुद खेलते और उन्हें तरह-तरह के खेल खिलाते। शहर को तीन तरफ़ से घेरे खड़े तालाबों का एक चक्कर लगाने में कोई 3 घंटे लगते हैं। गैंगजी कभी पहले तालाब पर दिखते तो कभी आख़री पर, कभी सुबह यहां मिलते तो दोपहर वहां और शाम न जाने कहां। गैंगजी अपने आप तालाबों के रखवाले बन गए थे।

वर्ष के अंत में एक समय ऐसा आता जब गैंगजी तालाबों के बदले शहर की गली-गली में घूमते दिखते। साथ चलती बच्चों की फ़ौज। हर घर का दरवाज़ा खुलने पर उन्हें बिना मांगे एक रुपया मिल जाता। बरसों से हरेक घर जानता था कि गैंगजी सिर्फ़ एक रुपया मांगते हैं, न कम न ज़्यादा। रुपए बटोरने का काम पूरा होते ही वे पूरे शहर के बच्चों को बटोरते। बच्चों के साथ ढेर सारी टोकरियां, तगाड़ियां, फावड़े, कुदाल भी जमा हो जाते। फिर एक के बाद एक तालाब साफ़ होने लगता। साद निकाल कर पाल पर जमाई जाती। हरेक तालाब के नेष्टा का कचरा भी इसी तरह साफ़ किया जाता। एक तगाड़ी मिट्टी-कचरे के बदले हर बच्चे को दुअन्नी इनाम में मिलती।

गैंगजी कल्ला कब से यह कर रहे थे—आज किसी को याद नहीं।

बस इतना पता है कि यह काम सन् 55-56 तक चलता रहा। फिर गैंगजी चले गए।

शहर को वैसी किसी मृत्यु की याद नहीं। पूरा शहर शामिल था उनकी अंतिम यात्रा में। एक तालाब के नीचे ही बने घाट पर उनका अंतिम संस्कार हुआ। बाद में वहीं उनकी समाधि बनाई गई।

जो तालाब बनाते थे, समाज उन्हें संत बना देता था। गैंगजी ने तालाब तो नहीं बनाया था। पहले बने तालाबों की रखवाली की थी। वे भी संत बन गए थे।

फलौदी में तालाबों की सफ़ाई का खेल संत खिलवाता था तो जैसलमेर में यह खेल खुद राजा खेलता था।

सभी को पहले से पता रहता था फिर भी नगर-भर में ढिंढोरा पिटता था। राजा की तरफ़ से, वर्ष के अंतिम दिन, फाल्गुन कृष्ण चौदस को नगर के सबसे बड़े तालाब घड़सीसर पर ल्हास खेलने का बुलावा है। उस दिन राजा, उनका पूरा परिवार, दरबार, सेना और पूरी प्रजा कुदाल, फावड़े-तगाड़ियां लेकर घड़सीसर पर जमा होती। राजा तालाब की मिट्टी काट कर पहली तगाड़ी भरता और उसे खुद उठाकर पाल पर डालता। बस गाजे-बाजे के साथ ल्हास शुरु। पूरी प्रजा का खाना-पीना दरबार की तरफ़ से होता। राजा और प्रजा सबके हाथ मिट्टी में सन जाते। राजा इतने तन्मय हो जाते कि उस दिन उनके कंधे से किसी का भी कंधा टकरा सकता था। जो दरबार में भी सुलभ नहीं, आज वही तालाब के दरवाज़े पर, मिट्टी ढो रहा है। राजा की सुरक्षा की व्यवस्था करने वाले, उनके अंगरक्षक भी मिट्टी काट रहे हैं, मिट्टी डाल रहे हैं।

ऐसे ही एक ल्हास में जैसलमेर के राजा तेजसिंह पर हमला हुआ था। वे पाल पर ही मारे गए थे। लेकिन ल्हास खेलना बंद नहीं हुआ। यह

चलता रहा, फैलता रहा। मध्यप्रदेश के भील समाज में भी ल्हास खेला जाता है, गुजरात में भी ल्हास चलती है। वहां यह परंपरा तालाब से आगे बढ़ कर समाज के ऐसे किसी भी काम से जुड़ गई थी, जिसमें सबकी मदद चाहिए।

सबके लिए सबकी मदद। इसी परंपरा से तालाब बनते थे, इसी से उनकी देखभाल होती थी। मिट्टी कटती थी, मिट्टी डलती थी। समाज का खेल ल्हास के उल्हास से चलता था।

थाली का बैंगन

भाषा में अगर हम किसी तरह की असावधानी दिखाते हैं तो हम व्यवहार में भी असावधानी पाते हैं। उदार शब्द हिंदी का बड़ा ही शुभ शब्द है। अगर राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था का उदारीकरण करना है तो 15 साल बाद उसका निरीक्षण क्यों करना? जब मन उदार बन रहा है, व्यवस्था उदार हो रही है तब हमारे मन में संशय और डर कैसा? इसका मतलब है हमने एक ग़लत उद्देश्य के लिए एक अच्छे शब्द की बलि दी है। यह दुख की बात है कि हिंदी भाषा के बुद्धिजीवी, अख़बार, साहित्यकार किसी ने समाज का ध्यान इस ओर नहीं खींचा। उदार का विपरीत अर्थ कंजूस, कृपण और झंझटी है तो क्या इसके पहले की व्यवस्था कंजूसी की थी, कृपणता की थी, संकीर्णता की थी? वह दौर किनका था? वह दौर सर्वश्रेष्ठ नेताओं का था। नेहरूजी जैसे लोगों का। अगर वह दौर कृपणता का था तो अब हम उदार हो गए हैं। हम पाते हैं आज उस दौर से कमज़ोर नेता हमारे पास हैं। यह कैसे हो सकता है कि कृपणता के दौर में अच्छे नेता थे और अब उदारीकरण के समय कमज़ोर नेता? पहले हमें इसका हल ढूंढ़ना चाहिए। फिर 15 साल कैसे बीते उस पर बग़ैर किसी कटुता के बात करनी चाहिए।

मंच कोई भी हो उस पर खुले मन से अगर बात आगे नहीं बढ़ाएंगे तो हम लोगों को प्रत्येक 15 साल में एक झटका महसूस होगा। अगर ऐसा नहीं करते हैं तो जिस तरह से पहले हमने अर्थव्यवस्था चलाई है उससे मुंह मोड़ा है। पहले भी वही ग़लतियां हुई हैं। दुनिया के किसी एक पक्ष ने हमें पढ़ाया कि राष्ट्रीयकरण कर लो। हमने वह पाठ तोते की तरह पढ़ लिया। हमने आगे-पीछे का कुछ भी नहीं सोचा। हमने अपने तोतों से भी नहीं पूछा कि क्या तुम्हें भी कुछ पाठ पढ़ाया गया है? कुछ नहीं तो डाल पर बैठे अपने तोतों से ही पूछ लेते तो शायद मामला ठीक हो जाता। शायद हमें पता चल जाता कि राष्ट्रीयकरण में ऐसा कुछ नहीं था कि इसके नीचे जो भी डाल देंगे सब ठीक हो जाएगा। वह प्रयोग भी बहुत सफल नहीं होने वाला था। अब दौर आया कि हर चीज़ का राष्ट्रीय हटाकर बाज़ारीकरण करते जाइए और इसे उदारीकरण का नाम दे दिया गया। मैं इस शब्द में कोई अलंकार या अनुप्रास देखने का मोह नहीं रखता। वस्तुतः यह हमारे दिमाग़ का, हमारी व्यवस्था का उदारीकरण नहीं उधारीकरण है। हमें अपने देश को चलाने के लिए बाहर की चीज़ें उधार लेनी पड़ती हैं। जान-बूझकर सोच-समझकर लेना, पूरी दुनिया का दरवाज़ा खुला रखना एक अलग बात है। लेकिन दुनिया में जिस चीज़ का झंडा ऊपर हो जाए, कभी साम्यवाद, कभी इस वाद का, कभी उस वाद का और हम उससे अछूते ही नहीं रहे बल्कि उसकी लपेट में पूरी तरह से आ जाएं, यह बहुत चिंतनीय दौर है। पूरे दौर में इस देश में जिसका मन लोहे जैसा है, इस्पात जैसा है क्यों इतनी जल्दी पिघल जाता है?

कटु और मीठे अनुभव की तरफ़ जाने से पहले समाज को बैठकर यह देखना चाहिए कि हम पहले से बेहतर हुए हैं क्या? अगर लोगों को उसकी क़ीमत चुकानी पड़े तो चुकाना चाहिए। लेकिन समाज एक दौर में इतना निष्ठुर हो जाता है कि कुछ लोगों के भले के लिए ज़्यादा लोगों

की क़ीमत चुकवा देता है। कम लोगों के लिए क़ीमत तो फिर भी समझ में आने वाली बात है। उदाहरण के तौर पर हरसूद को लेना लाज़िमी होगा। वहां नर्मदा नदी पर एक बांध बनाया जा रहा है। हरसूद नाम का बड़ा क़स्बा डूब रहा है। हरसूद शहर नहीं, छोटा क़स्बा भी नहीं परंतु एक बड़ा क़स्बा तो है। उसे डूबने से बचाने की तैयारी सरकारों ने पिछले 20 वर्षों में नहीं की है।

इस बांध की निर्माण योजना से गुजरात और मध्यप्रदेश के बीच बिजली और खेती (सिंचाई) की योजना है। अगर इस योजना से ज़्यादा लोग लाभ पा रहे हैं तो सरकार को यह बताना चाहिए कि नुक़सान कितने लोगों का हो रहा है? आज हम गिनती को छुपा रहे हैं। उसकी भरपाई नहीं सोच रहे हैं। सरकार तो उन्हें बोझ मानती है। उस बोझ की ज़िम्मेदारी मानकर उसे ढोकर ठीक जगह पुर्नस्थापित नहीं करना चाहती है। आज हरसूद उजड़ता दिख रहा है। परंतु पिछले 20–25 साल से वह मन से उजड़ चुका है। 20 साल पहले भी हरसूद के लोग आज की तरह भय और संशय की स्थिति में अपने उजड़ने की प्रतीक्षा कर रहे थे। आज उदारीकरण से लाभ पाने वालों की संख्या अगर अधिक है तो अल्पसंख्यक समुदाय का ज़रूरत से ज़्यादा ख़्याल रखना चाहिए।

आज के दौर में लोगों के सामने बड़ी चुनौती है—उनके विवेक हरण की। हम राष्ट्रीयकरण के आने पर राष्ट्रीयकरण के गुण गाने लगते हैं। उदारीकरण के आने पर उसके गुण गाने लगते हैं। चुनौती आने पर पूरा समाज बैठकर हल ढूंढ़े ऐसा वातावरण नहीं बचा है। छोटे-मोटे आंदोलनों को छोड़ दीजिए। उनकी तो कोई जगह इनमें नहीं बन पा रही है। वे इसके हिस्से बन जाते हैं। बड़ा काम कर सकने वाले जो लोग हैं उनका विरोध क्षणिक और ऊपरी सतह का दिखता है।

कोक-पेप्सी एक ऐसा उद्योग है जिसे पानी कच्चे माल के तौर पर

चाहिए। मशीन धोने, मशीन बनाने, कपड़ा बनाने, कपड़ा धोने में पानी की ज़रूरत होती है। पंप लगाकर पानी की ज़रूरत पूरी करना उसके उत्पादन का ज़रूरी हिस्सा हो जाता है। उनकी ज़रूरत कम है या ज़्यादा, अलग विवाद है। कोक-पेप्सी और बोतलबंद पानी ऐसे उद्योग हैं जिनके उत्पादन का मुख्य हिस्सा पानी है। ज़मीन के छोटे हिस्से को ख़रीदकर वहां से हज़ारों-लाखों लीटर पानी वे अगर उलीच लेना चाहते हैं और अगर वर्तमान क़ानून इसकी इजाज़त देता है तो वह उचित नहीं है। यह चुनौती सरकार के सामने है। कोक पेप्सी की मनमानी के ख़िलाफ़ बहुत बड़े जन समुदाय के लिए दख़ल देना बहुत ज़रूरी हो गया है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि एक गज़ ज़मीन ख़रीदकर वहां से एक हज़ार लीटर पानी खींच लिया जाए। मैं कोक-पेप्सी को बाहर करने की मांग नहीं करता हूं। ऐसी मांगें भी अपने यहां उठती हैं। वे समाज और पर्यावरण का नुक़सान कर रहे हैं, वह उनकी भरपाई करें, ऐसा क़ानून बनाया जाए या उन्हें लूट-खसोट के लिए खुला छोड़ दें?

नदी जोड़ने के संबंध को अगर हम उदारीकरण के अंतर्गत या बाहर करके भी देखें तो यह एक स्वतंत्र रूप से बनी योजना है। इसकी झलक हमें ऐतिहासिक रूप से राष्ट्रीयकरण के दौर में मिलती है। वह युग के. एल. राव और नेहरू जी का था। तब नदी जोड़ने का बड़ा सपना देखना बड़ा ही अच्छा माना जाता था। आज भी इसे ग़लत नहीं माना जाता है। राष्ट्रीयकरण से लेकर उदारीकरण तक अगर जोड़ने की बात है तो वह नदी जोड़ो योजना है। वह इन दोनों छोरों को जोड़ती है। और हमें बार-बार ग़लत साबित करती है कि केवल बाज़ार के लालच ने ही नहीं, बल्कि अच्छे राष्ट्रीयकरण का दौर भी नदी जोड़ने से हमें अलग नहीं कर पा रहा था। प्रकृति को जब ज़रूरत होती है वह अपनी नदियों को जोड़ लेती है। वह पांच दस साल नहीं बल्कि लाखों हज़ारों वर्षों की योजना बनाकर

अपने को जोड़ती है। वह गंगा को कहीं बहाती है, यमुना को कहीं बहाती है तब जाकर वह इलाहाबाद में अपने को मिलाती है। यह जोड़ समाज के लिए संगम या तीर्थ कहलाता है। वह पर्यावरण की एक बड़ी घटना होती है। दोनों नदियों में वनस्पति अलग, जलचर का अलग-अलग स्वभाव होता है। पहले नदियां निचले स्तर में, धाराओं में साम्य लाती हैं। ऐसी जगहों को वहां के समाज ने बहुत उदार भाव से देखा होगा। प्रकृति की इन घटनाओं को आदर भाव से संगम घोषित किया गया होगा। वे प्रकृति की इन घटनाओं का आदर करते हैं। अभी जो हम नदी जोड़ो की बात कर रहे हैं उसमें हम नदियों को संख्या दे देंगे। यह तीर्थ नहीं बनने वाला है। यह तकनीकी कार्य होगा। इसका नतीजा भी तकनीकी ही होगा। हमें यह सब कुछ नदियों पर ही छोड़ देना चाहिए।

नदियां, समुद्र में प्रवेश करने से पूर्व अपने बहुत सारे टुकड़े करती हैं। अन्यथा उन रास्तों से प्रवेश कर समुद्र प्रलय मचाता। नदियां बहुत संतुलन और धैर्य के साथ समुद्र में विलीन होती हैं। गंगा बांग्लादेश और पश्चिम की नदियां अरब सागर में कई टुकड़ों में बंटकर मिलती हैं। प्रकृति पर श्रद्धा रखना वैज्ञानिक सोच है। यह सोच विकसित करनी होगी कि जितना प्रकृति ने दिया है उसके हिसाब से अपना जीवन चलाएं। प्रकृति ने अलग-अलग क्षेत्रों में कई नदियां बनाई हैं। अन्यथा वह एक नदी बनाती। कश्मीर से चलाकर कन्याकुमारी तक उसे पहुंचाती। ऐसा संभव नहीं है। भूगोल ऐसी अनुमति नहीं देता है। यह काम पर्यावरण से ज़्यादा भूगोल नष्ट करेगा। पर्यावरण को संतुलित किया जा सकता है। परंतु भूगोल को नहीं। पृथ्वी की जो ढाल है, चढ़ाव है जिनके कारण ज़्यादातर नदियां पूरब की तरफ़ बहती हैं उन्हें पश्चिम की तरफ़ अगर मोड़ेंगे तो आनेवाली पीढ़ी हमें माफ़ नहीं करेगी।

पांच-दस साल में हमने जो बाहर से बड़े ट्रालर (मशीनीकृत नौका)

मंगवाए हैं, उसका जाल बहुत ही बारीक होता है। वह मछली पकड़ने की कोई सीमा नहीं मानता है। पुराने मछुआरे बरसात के दिनों में मछली नहीं मारते थे। जाल का आकार भी बड़ा रखते थे ताकि छोटी मछलियां निकल जाएं। वे केवल बढ़त चाहते थे। अभी के जाल में सारी छोटी-बड़ी मछलियां फंस जाती हैं। उन्हें जो चाहिए होता है वह छांटकर अपने काम में ले आते हैं और बची मछलियों को कचरे की तरह समुद्र में प्रदूषण फैलाने के लिए फेंक देते हैं। यह बहुत बड़ी बर्बादी का कारण है। पहले के मछुआरे मछली ज़रूर मारते थे। परंतु उनके प्रजनन के दौर में वे पानी में जाल बिल्कुल नहीं डालते थे। मछली के साथ उनका जीवन का संबंध था। मछली को खाते थे, मारते थे, बेचते थे सब कुछ करते थे। मगर मछली के साथ उनका सांस्कृतिक संबंध था, मछुआरे उनके दुख-सुख के साथी होते थे। उदारीकरण के दौर में जहां भी बड़े ट्रालरों का उपयोग हो रहा है सबने बहुत नुक़सान उठाया है। मछली के उत्पादन पर इसका बुरा असर पड़ा है।

हम स्थायी या टिकाऊ विकास की बात करते हैं, परंतु अभी तो हमारा विचार ही टिकाऊ नहीं है। हमसे राष्ट्रीयकरण की कोई बात करता है तो हम उसके पीछे दौड़ पड़ते हैं। हमें उदारीकरण का झंडा ऊंचा दिखता है तो हम उसके पीछे दौड़ने लगते हैं। कोई हमें बड़े ट्रालरों से मछली पकड़ने को कहता है तो हम बड़े ट्रालर से मछली पकड़ने लगते हैं। हम यह नहीं जानना चाहते हैं कि जहां बड़े ट्रालर से मछली पकड़ी जा रही है, उनके क्या अध्ययन हैं? हमारे कुछ अच्छे अधिकारी वहां जाकर साल भर अध्ययन करें, मछुआरा समाज के विशेष प्रतिनिधि जाकर वहां देखें कि क्या ठीक है, वह करें। हमें जो कुछ भी कहा जाता है, हम बग़ैर जांचे-परखे उसके पीछे दौड़ते हैं। बाज़ार में बिकने लायक़ जो भी पद्धति हमें दिखती है, हम उसका अनुसरण करने लगते

हैं। यह दुखद है। हमें यह तय करना होगा कि हम एक ऐसे बाज़ार के लिए तैयार हैं, जिसमें कोई प्रमाण नहीं बचा है। इस बाज़ार की कोई दृष्टि नहीं है। यह तो केवल पैसा-डॉलर समझता है। हम कभी ऐसे बाज़ार के हिस्से हुआ करते थे जिस पर समाज व किसान का नियंत्रण था। हम आज बहुत पीछे छूट गए हैं। 15 साल के उदारीकरण से आई इन बातों की चिंता आज ज़रूरी है। इसकी चिंता बाज़ार नहीं करेगा, थाली नहीं करेगी। हम बैंगन तो चिंता करें।

भगदड़ में पड़ी सभ्यता

हर समाज में उत्सव प्रियता की एक बड़ी जगह रहती है। इसमें मेले-ठेलों का आयोजन स्वागत योग्य ही होता है। लेकिन जोहान्सबर्ग में 'स्थायी विकास पर विश्व सम्मेलन' समझ से परे है।

दुनिया के अधिकांश देशों, भागों के 'पिछड़ेपन' पर तरस खाकर कोई साठ बरस पहले 'विकास' नाम की 'जादुई दवा' की पुड़िया हरेक को थमा दी गई थी। फिर 3 दशक बाद इन्हीं चिकित्सकों ने पाया कि विकास से विनाश भी हो रहा है। तो तुरंत विनाश रहित विकास का नारा भी सामने आ गया था। फिर उससे भी दुनिया की समस्याएं जब ठीक होती नहीं दिखीं तो 'बुंटलैंड आयोग' के समझदार सदस्यों ने पूरी दुनिया का चक्कर लगाकर 'स्थायी विकास' का विचार सामने रखा। तब से अब तक संयुक्त राष्ट्र संघ के ढांचे में इसकी कोई सत्तर से अधिक परिभाषाएं विकसित हो चुकी हैं।

हर देश में विकास के नाम पर अपने ही संसाधनों की छीना-झपटी चलती रही है। बाद में यह देशों की सीमाएं लांघकर बड़े क्षेत्र तक भी फैली है। और अब तो 'भूमंडलीकरण' जैसे विचित्र शब्दों की मदद से पूरी दुनिया में एक नए क़िस्म की लूटपाट का कारण बन गई है। संसाधनों

की ऐसी लूटपाट पहले कभी देखी नहीं गई थी। इसमें माओ का चीन हो या गांधी का भारत--सभी देश कोका कोला के चुल्लू भर पानी में डूब मरने को ही विकास का उत्सव मान बैठे हैं।

भूमंडलीकरण की होड़ में, ऐसी भगदड़ में फंसी सरकारों से, उनके कर्ता-धर्ताओं से किसी तरह के स्वस्थ, स्थायी विकास की उम्मीद कर लेना भोलापन या साफ़ शब्दों में कहें तो पोंगापन ही होगा। 'स्थायी विकास' की एक सर्वमान्य परिभाषा इसे ऐसा विकास बताती है जो देशों और दुनिया के स्तर पर कुछ ऐसा करे कि वर्तमान पीढ़ी की बुनियादी ज़रूरतें आने वाली पीढ़ी की ज़रूरतों को चोट पहुंचाए बिना सम्मानजनक ढंग से पूरी हो सकें। लेकिन आज हम देख रहे हैं कि विकास का यह ढांचा तो इसी पीढ़ी की ज़रूरतें पूरी नहीं कर पा रहा। वह इसी पीढ़ी के एक ज़रा से भाग की सेवा में शेष बड़े भाग को वंचित करता जा रहा है।

पूरी दुनिया को रौंदने वाले इस विकास से पहले लगभग सभी समाजों में, यूरोप आदि में भी अपनी समस्याओं को अपने ढंग से हल करने की स्फूर्ति रही है। पर लंबे समय की ग़ुलामी और उसके बाद मिली विचित्र आज़ादी ने उन समाजों की उस स्फूर्ति का हरण कर लिया है। आज सभी मंचों से 'परंपरागत ज्ञान' का ख़ूब बखान होने लगा है पर यह कुछ इस ढंग से होता है मानो परंपरा हमें पीछे लौटा ले जाएगी। परंपरा का अर्थ है जो विचार और व्यवहार हमारे कल आज और कल को जोड़ सके। नहीं तो उसका गुणगान भी स्थायी विकास के ढोल की तरह होता जाएगा।

इस पखवाड़े जब दुनिया भर से जोहान्सबर्ग गए लोग वहां से अपने-अपने देश लौटेंगे तो क्या वे भगदड़ में पड़ी इस सभ्यता या असभ्यता के लिए एक स्थायी, कल आज और आने वाले कल के लिए टिक सकने वाले एक टिकाऊ विचार को वापस ला सकेंगे?

राजरोगियों की ख़तरनाक रज़ामंदी

अच्छे लोग भी जब राज के नज़दीक पहुंचते हैं तो उनको विकास का रोग लग जाता है, भूमंडलीकरण का रोग लग जाता है। उनको लगता है सारी नदियां जोड़ दें, सारे पहाड़ों को समतल कर दें—बुलडोज़र चला कर, उनमें खेती कर लेंगे। मात्र यही ख़्याल प्रकृति के विरुद्ध है। मैं बार-बार कह रहा हूं कि यह प्रभु का काम है, सुरेश प्रभु सहित देश के प्रभु बनने के चक्कर में इसे नेता लोग न करें तो अच्छा है। नदियां प्रकृति ही जोड़ती है। गंगा कहीं से निकली, यमुना कहीं से निकली। अगर ऊपर हेलीकॉप्टर से देखें तो एक ही पर्वत की चोटी से ठीक नीचे दो बिंदु से दिखेंगे। वहां उनमें गंगोत्री और यमनोत्री में बहुत दूरी नहीं है। प्रकृति उन्हें वहीं जोड़ देती। लेकिन सब जगह अलग-अलग सिंचाई करके दोनों कहां मिलें, यह प्रकृति ने तय किया था। तब वहां संगम बना। उसके बाद डेल्टा की भी सेवा करनी है नदी को।

'जब दामोदर नदी पर बांध बन रहा था, तब कपिल भट्टाचार्य नाम के एक इंजीनियर थे। वे किसी वैचारिक संगठन से नहीं जुड़े थे। लेकिन वे नदी से जुड़े हुए आदमी थे। उन्होंने अपने विभाग से अनुरोध किया कि दामोदर नदी घाटी योजना को रोक लें। लोगों ने कहा कि तुम क्यों इसे रोकना चाहते हो। इतने करोड़ की योजना है। इससे यह लाभ, वह

लाभ होगा। इससे औद्योगिक विकास होगा। भट्टाचार्य ने कहा था कि दामोदर का प्रवाह रोकोगे तो वहां से नीचे डेल्टा तक असर होगा। कोलकाता बंदरगाह नष्ट होगा। उसमें जहाज़ नहीं आ पाएंगे। उसकी गहराई कम हो जाएगी। जिस प्रवाह से सिल्ट बाहर जाती है, उसे महंगे यंत्रों के जरिए बाहर निकालना पड़ेगा। करोड़ों रुपए ख़र्च होंगे, नदी की गहराई कृत्रिम तरीक़े से बढ़ाने के लिए। यह भी चार-पांच साल कर पाओगे। फिर तब तक इतनी मिट्टी आ चुकी होगी कि यह भी बंद करना पड़ेगा। तब आपको बंदरगाह बदलना पड़ेगा। तब तक बांग्लादेश नहीं बना था। भट्टाचार्य ने यह भी कहा था कि इस बांध के कारण पड़ोसी देश के भी साथ आपके संबंध बिगड़ते जाएंगे।'

तटबंध और टेक्नोलॉजी से समुद्र का कोई संबंध नहीं होता, वह अपनी विशेष शक्ति रखता है। उसमें मनुष्य हस्तक्षेप करे, विज्ञान के विकास के नाम पर तो सचमुच प्रकृति उसे तिनके की तरह उड़ा देती है। सुंदरवन ऐसे ही समुद्री तूफ़ानों को रोकते हैं। पाराद्वीप का सुंदरवन नष्ट हुआ इसलिए उड़ीसा में चक्रवात आया। इसके आगे 'सुपर' विशेषण लगाना पड़ा था। अथाह जन-धन हानि हुई। अथाह बर्बादी। यह सब देखकर लगता है कि प्रकृति के ख़िलाफ़ अक्षम्य अपराध हो रहे हैं। इनको क्षमा नहीं किया जा सकता। इसकी कोई सज़ा भी नहीं दी जा सकती। नदी जोड़ना उस कड़ी में सबसे भयंकर दर्जे पर किया जाने वाला काम होगा। इसको बिना कटुता के जितने अच्छे ढंग से समझ सकते हैं, समझना चाहिए। नहीं तो कहना चाहिए कि भाई अपने पैर पर तुम कुल्हाड़ी मारना चाहते हो तो मारो लेकिन यह निश्चित पैर पर कुल्हाड़ी है। ऐसा करने वालों के नाम एक शिलालेख में लिख कर दर्ज कर देने चाहिए और कुछ विरोध नहीं हो सके तो किसी बड़े पर्वत की चोटी पर यह शिलालेख लगा दें कि भैया आने वाले दो सौ सालों तक के लिए अमर रहेंगे ये नाम। इनका कुछ नहीं किया जा सका।

मैं सर विलियम वेलॉक नामक अंग्रेज़ अधिकारी को याद करना चाहूंगा। 1938 में बंगाल प्रेसीडेंसी के इंजीनियरों के सामने उन्होंने छह भाषण दिए। वेलॉक ने अपने सभी युवा अधिकारियों के सामने कहा था कि 70–80 साल में अंग्रेज़ों ने जो नहरें बनाई हैं, उनका आर्थिक लाभ एक पलड़े में रखो और नुक़सान दूसरे पर, तो नुक़सान का पलड़ा कहीं ज़्यादा भारी है। हमने पूरे बंगाल की सोनार-संस्कृति को नष्ट किया है। वेलॉक ने कहा था कि उत्पादन घटा है नहरों के आने के बाद।

मध्यप्रदेश में तवा बांध को लेकर यही हुआ। 73–74 के समय विवाद के कारण नर्मदा पर बांध नहीं बन सकते थे तो तवा पर बांध बनाया गया। इस बांध के कारण खेतों में दलदल हो गया। खेती बर्बाद हो गई। काली मिट्टी वाले इलाक़े में, जहां अनाज भारी मात्रा में होता था, तबाही मच गई। जर्मन विकास बैंक ने इस तबाही के कारण बदनामी को देखते हुए तवा बांध पर लगाए गए पैसे वसूलने की भी ज़रूरत नहीं समझी और चुपचाप खाता बंद कर दिया और दृश्य से ही ग़ायब हो गया। उस समय अकेले गांधीवादी बनवारीलाल चौधरी ने तवा बांध का विरोध किया। फिर बांध के कारण आई विपदा से मुक्ति के लिए मिट्टी बचाओ आंदोलन शुरू किया। ऐसा ही अभियान अब नदियों की रक्षा के लिए चलाना होगा।

वेलॉक ने अस्सी-नब्बे साल पहले कहा था कि नदियों के प्रवाह कम होने से उत्पादन घटा है। बाढ़ की संभावना बढ़ी है। खारापन, लवणीकरण इस इलाक़े में बढ़ा है। उन्होंने एक और आश्चर्यजनक तथ्य बताया था कि मलेरिया का प्रकोप इस इलाक़े में केवल नदियों को छेड़ने के बाद आया है। नदी जोड़ो योजना से पूरे डेल्टा के इलाक़े में यह सब कुछ और बढ़ेगा। आज़ादी से थोड़ा पहले बंगाल के सिंचाई विभाग के वरिष्ठ अधिकारियों के सामने प्रो. मजूमदार का एक भाषण भी महत्वपूर्ण है। मजूमदार ने कहा था कि यह मानने की ग़लती या बेवकूफ़ी न करो कि

नदी का पानी समुद्र में 'बर्बाद' जाता है। समुद्र में जाकर ये नदियां हम पर उपकार करती हैं, इसलिए इनको देवी माना गया है।'

राज-रोग से कैसे निपटें? इससे निपटने का एक ही तरीक़ा होता है। जब राज हाथ से जाता है तो यह रोग भी चला जाता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण रामकृष्ण हेगड़े का है। कर्नाटक में पच्चीस साल पहले वेड़थी नदी पर एक बांध बनाया जा रहा था। किसानों को इस बांध के बनने से उनकी खेती के चक्र के नष्ट होने की आशंका हुई। उन्होंने इसका विरोध किया। कर्नाटक के किसानों ने संगठन बनाकर सरकार से कहा कि उन्हें इस बांध की ज़रूरत ही नहीं है। संपन्नतम खेती वे बिना बांध के ही कर रहे हैं। इस बांध के बनने से उनका सारा चक्र नष्ट हो जाएगा। हेगड़े उस आंदोलन के अगुवा बने। पांच साल तक वे इस आंदोलन के एकछत्र नेता रहे। बाद में राज्य के मुख्यमंत्री बने। मुख्यमंत्री बनने के बाद हेगड़े वेड़थी बांध बनाने के पक्ष में हो गए। लोगों ने कहा कि आप तो इस बांध के प्रमुख विरोधियों में से थे। उन्होंने कहा तब मैं सरकार में नहीं था। अभी मुझे पूरे कर्नाटक की ज़रूरत दिखाई देती है। क्षेत्र विशेष में अब मेरी दिलचस्पी नहीं है। उससे उसको नुक़सान भी होगा तो भोगने दो। लेकिन कर्नाटक को इतनी बिजली मिलेगी जितनी ज़रूरत है। औद्योगिकरण होगा। हेगड़े के पाला बदलने के बावजूद किसानों का आंदोलन चलता रहा। हेगड़े का राज चला गया। उनका राज-रोग भी चला गया। लेकिन किसानों का आंदोलन चलता रहा। आंदोलन के कारण ही वह बांध आज भी नहीं बन सका। देश में इस तरह का यह पहला उदाहरण है।

जिनका दिल देश के लिए धड़कता है उन्हें नदी जोड़ो परियोजना पर प्रेमपूर्वक बात करनी चाहिए। ज़रूर कहीं कोई-न-कोई सुनेगा। यह दौर बहुत विचित्र है और इस दौर में सब विचारधाराएं और हर तरह का

राजनैतिक नेतृत्व सर्वसम्मति रखता है सिर्फ़ विनाश के लिए। उन सब में रज़ामंदी है विनाश के लिए। और किसी चीज़ में एक दो वोट से सरकार गिर सकती है, पलट सकती है, बन सकती है, बिगड़ सकती है। लेकिन इस विकास और विनाश वाले मामले में सबकी ग़ज़ब की सर्वसम्मति है। इस सर्वसम्मति के बीच में हमारी आवाज़ दृढ़ता और संयम से उठनी चाहिए। जो बात कहनी है, वह दृढ़ता से कहनी पड़ेगी। प्रेम से कहने के लिए हमें तरीक़ा निकालना पड़ेगा। हमें अब सरकार के पक्ष को समझने की कोई ज़रूरत नहीं है। उसे समझने लगें तो ऐसी भूमिका हमें थका देगी। हम कोई पक्ष नहीं जानना चाहते। हम कहना चाहते हैं कि यह पक्षपात है देश के साथ, देश के भूगोल के साथ, उनके इतिहास के साथ—इसे रोको।

असभ्यता की दुर्गंध में एक सुगंध

पहले कुछ सरल बातें। फिर कुछ कठिन बातें भी। एक तो गांधीजी ने पर्यावरण के बारे में कुछ नहीं लिखा, कुछ नहीं कहा। तब आज जैसा यह विषय, इससे जुड़ी समस्याएं वैसी नहीं थीं, जैसे आज सामने आ गई हैं। पर उन्होंने देश की आज़ादी से जुड़ी लंबी लड़ाई लड़ते हुए जब भी समय मिला, ऐसा बहुत कुछ सोचा, कहा और लिखा भी जो सूत्र की तरह पकड़ा जा सकता है और उसे पूरे जीवन को संवारने, संभालने और उसे न बिगड़ने के काम में लाया जा सकता है। सभ्यता या कहें कि असभ्यता का संकट सामने आ ही गया था।

गांधीजी के दौर में ही वह विचारधारा अलग-अलग रूपों में सामने आ चुकी थी जो दुनिया के अनेक भागों को ग़ुलाम बनाकर, उनको लूटकर इने-गिने हिस्सों में रहने वाले मुट्ठी-भर लोगों को सुखी और संपन्न बनाए रखना चाहती थी। साम्राज्यवाद इसी का कठिन नाम था। उस दौर में गांधीजी से किसी ने पूछा था कि आज़ादी मिलने के बाद आप भारत को इंग्लैंड जैसा बनाना चाहेंगे तो उन्होंने तुरंत उत्तर दिया था कि छोटे से इंग्लैंड को इंग्लैंड जैसा बनाए रखने में आधी दुनिया को गुलाम बनाना पड़ा था, यदि भारत भी उसी रास्ते पर चला तो न जाने कितनी सारी दुनिया चाहिए

होगी। कभी एक और प्रश्न उनसे पूछा गया था, 'अंग्रेज़ी सभ्यता के बारे में आपकी क्या राय है।' गांधीजी का उत्तर था, 'यह एक सुंदर विचार है।'

अहिंसा की वह नई सुगंध गांधी चिंतन, दर्शन में ही नहीं उनके हर छोटे-बड़े काम में मिलती थी। जिससे वे लड़ रहे थे, उससे वे बहुत दृढ़ता के साथ, लेकिन पूरे प्रेम के साथ लड़ रहे थे। वे जिस जनरल के ख़िलाफ़ आंदोलन चला रहे थे, न जाने कब उसके पैर का नाप लेकर उसके लिए जूते की एक सुंदर जोड़ी अपने हाथ से सी रहे थे। पैर के नाप से वे अपने शत्रु को भी भांप रहे थे। इसी तरह बाद के एक प्रसंग में अंग्रेज़ सरकार ने उन्हें गिरफ़्तार कर पूना की जेल में भेज दिया था। जेल में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तिका 'मंगल प्रभात' लिखी। इसमें एकादश व्रतों पर सुंदर टिप्पणियां हैं। ये व्रत है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शरीरश्रम, अस्वाद, अभय, सर्वधर्म समभाव, स्वदेशी और अस्पृश्यता-निवारण। गांधीजी ने इस सूची में से स्वदेशी पर टिप्पणी नहीं लिखी। एक छोटा-सा नोट लिखकर पाठकों को बताया कि जेल में रहकर वे जेल के नियमों का पालन करेंगे और ऐसा कुछ नहीं लिखेंगे जिसमें राजनीति आए। और स्वदेशी पर लिखेंगे तो राजनीति आएगी ही।

स्वदेशी का यही व्रत पर्यावरण के प्रसंग में गांधीजी की चिंता का, उसकी रखवाली और संवर्धन का एक बड़ा औज़ार था। इस साधन से पर्यावरण के साध्य को पाया जा सकता है, इस बात को गांधीजी ने बिना पर्यावरण का नाम लिए बार-बार कहा है। पर यह इतना सरल नहीं है। ऊपर जिस बात का उल्लेख है वह यही है। इस साधन से तथ्य को पाने के लिए साधना भी चाहिए। गांधीजी साधना का यह अभ्यास व्यक्ति से भी चाहते थे, समाज से भी। ग़ैर ज़रूरी ज़रूरतों को कम करते जाने का अभ्यास बढ़ सके-व्यक्ति और देश के स्तर पर भी यह कठिन काम लगेगा, पर इसी ग़ैर ज़रूरी खपत पर आज की असभ्यता टिकी हुई है।

नींव से शिखर तक हिंसा, घृणा और लालच में रंगी-पुती यह असभ्यता ग़जब की सर्वसम्मति से रक्षित है। विभिन्न राजनैतिक विचारधाराएं, प्रणालियां सब इसे टिकाए रखने में एकजुट हैं। छोटे-बड़े सभी देश अपने घर के आंगन को बाजार में बदलने के लिए आतुर हैं। इस बाज़ार को पाने के लिए वे अपना सब कुछ बेचने को तैयार हैं। अपनी उपजाऊ ज़मीन, अपने घने वन, अपना नीला आकाश, साफ़ नदियां, समुद्र, मछलियां, मेंढक की टांगे, और तो और अपने पुरुष, महिलाएं और बच्चे भी। यह सूची बहुत बढ़ती जा रही है। और इन देशों की सरकारों की शर्म घटती जा रही है।

पहले कोई गर्म दूध से जल जाता था तो छाछ भी फूंक-फूंक कर पीता था। अब तो देश के देश विकास के या कहें विनाश के गर्म दूध से जल रहे हैं फिर भी विश्व बैंक से और उधार लेकर, अपना पर्यावरण गिरवी रखकर बार-बार गर्म दूध बिना फूंके पी रहे हैं।

तब ऐसे विचित्र दौर में कोई गांधी विचार की तरफ़ क्यों मुड़ेगा? बीस-तीस बरस पहले कुछ लोग 'मजबूरी का नाम महात्मा गांधी मानते थे। आज लगता है कि यही बात एक भिन्न अर्थ में सामने आएगी। विकास की विचित्र चाह हमें एक ऐसी स्थिति तक ले जाएगी जहां साफ़ पानी, साफ़ हवा, साफ़ अनाज और शायद साफ़ माथा, दिमाग़ भी ख़तरे में पड़ जाएगा और तब मजबूरी में संभवतः महात्मा गांधी का नाम लेना पड़ेगा। 'यह धरती हर एक की ज़रूरत पूरी कर सकती है' ऐसा विश्वास के साथ केवल गांधीजी ही कह सकते थे क्योंकि अगले ही वाक्य में वे यह भी बता रहे हैं, कि 'यह धरती किसी एक के लालच को पूरा नहीं कर सकती'। ज़रूरत और लालच का, सुगंध और दुर्गंध का यह अंतर हमें गांधीजी ही बता पाए हैं। गांधीजी कल के नायक थे या नहीं, इतिहास जाने। वे आने वाले कल के नायक ज़रूर होंगे।

पर्यावरण का पाठ

योगिता शुक्ल से बातचीत

आपकी दोनों पुस्तकों का विषय मूलतः जल-प्रबंधन पर आधारित है। एक ही विषय पर दो पुस्तकें लिखने में दुहराव का ख़तरा तो रहता ही है, तो क्या इन दोनों पुस्तकों को एक दूसरे के पूरक या विस्तार की तरह देखना चाहिए या फिर दो भिन्न किताबों की तरह। अपनी दोनों पुस्तकों को लेकर आप उनके किस तरह के पाठ प्रस्तावित करना चाहेंगे?

1. *इन दोनों पुस्तकों की निर्माण-प्रक्रिया के बारे में और*
2. *इन पुस्तकों के प्रकाश में आने के पीछे प्रस्थान-बिंदु क्या रहा?*

दोनों का विषय एक है इसमें कोई शक नहीं। अगर हम पीछे लौट कर याद करें तो सबसे पहले हमने पानी के काम को समझना राजस्थान से शुरू किया। इस काम की गहराई बहुत थी और हम उसके लायक़ नहीं थे। बहुत तैयारी करनी पड़ी इसको समझने में। राजस्थान से यह यात्रा शुरू हुई फिर बाद के राज्यों को भी धीरे-धीरे समझा और ऐसा लगा कि पहले हम पूरे देश वाला हिस्सा संक्षेप में रख सकते हैं। फिर यह मोह

आया कि जहां देश का सबसे कम पानी गिरता है—मरुभूमि—उसका वर्णन हमको अलग ढंग से करना चाहिए। तालाब वाली किताब में आप देखेंगे कि राजस्थान का वर्णन होते हुए भी कम है। फिर हमको यह भी समझ में आया कि जहां समाज में सबसे कम पानी उपलब्ध है—प्रकृति की तरफ़ से—उस समाज ने अपने को सबसे रंग-बिरंगा संगठित किया है। और उसका आकार इतना बड़ा है कि वह संगठन निराकार हो गया। कोई अध्यक्ष, मंत्री, वार्षिक बजट, जीप, गाड़ी, बंगला कहीं नहीं दिखता।

पूरे देश का जो मन है, पानी को रोकने के मामले में वह एक है। अगर हम यह कहें कि एक धागे की माला है; फूल अलग-अलग हो सकते हैं। मरुभूमि का फूल कुछ और रंग का है, उसमें चटक ख़ुशबू है, तो मध्य भारत का फूल अलग है। फूल अलग हैं लेकिन धागा एक ही है। इधर से उधर तक सिद्धांत एक है कि प्रकृति से जो पानी मिले उसको सम्मान के साथ रोक लेना चाहिए। मिट्टी बदलती है, वर्षा का आंकड़ा बदलता है। जहां बहुत तेज़ पानी गिरता है वहां छोटे आगोर से जल्दी तालाब भरा जा सकता है। जैसलमेर वग़ैरह में बहुत बड़े आकार का आगोर चाहिए क्योंकि पानी कम गिरता है। तो फिर उतने बड़े आगोर की रखवाली के लिए नियम दूसरे बनाने पड़े होंगे समाज को।

आपने निर्माण प्रक्रिया के बारे में भी पूछा है। सबसे पहले हमने बीकानेर में एक बग़ीची देखी। उसमें एक पक्का आंगन था। फिर क़रीब घुटने के बराबर एक दीवार थी। सीधे उसको लांघकर भी जा सकते थे लेकिन कुछ एक अड़चन थी आप ऐसे बिना रोक-टोक न जा सकें। जो कुछ भी हमारी छोटी-मोटी पढ़ाई-लिखाई हुई है उसमें हमने ये कभी अनुभव नहीं किया था कि यह क्या चीज़ हो सकती है। हम लोगों ने उनसे पूछा : उन्होंने कहा यह पानी का टांका है। टांका हमने कभी नहीं देखा था, थोड़ा अटपटा भी लगा कि हम बिल्कुल गधे हैं। उन्होंने कहा—'नहीं

भीतर चलिए जूते उतार कर'। बग़ीची के आगोर में वो जूते उतार के ले गए। बीच में चबूतरा था। उस पर एक ढक्कन था। उसको खोलकर उन्होंने दिखाया। भीतर पानी था। मैंने पूछा—'कुआं है?' उन्होंने कहा—'कुआं नहीं, यह टांका है।' टांके और कुएं का अंतर मैंने पहली बार समझा। इसमें वर्षा का पानी इस आगोर से फ़र्श में रोक कर भरा गया है। मुझे बड़ा अचरज हुआ। उन्होंने कहा—'यहां पानी इतना कम गिरता है कि कुएं तो 300-400 फ़ुट गहरे हैं और उनमें अधिकांश में खारा पानी है। यह टांका वर्षा का मीठा पानी रोकने का तरीक़ा है।' फिर ऐसे कितने हैं; उन्होंने कहा—'घर-घर में हैं।' फिर तो एक नियम-सा बन गया कि अपने घर का टांका दिखाओ। एक उत्सुकता में समझते चले गए। वो जिज्ञासा शोध वाली नहीं थी। वह श्रद्धा बनती गई।

इससे पहले मध्यप्रदेश में तालाब वग़ैरह के बारे में थोड़ा बहुत पता था। उस समय 10-12 साल पर्यावरण का जो छोटा-मोटा काम किया था उससे जो समझ बनी, उसमें पानी का विषय उतना नहीं पकड़ पाया था। जंगल का काम कुछ पकड़ा था—चिपको आंदोलन के कारण। इतना ज़रूर समझ में आता था कि इन सब विषयों में अगर सबसे बड़े विशेषज्ञ हैं तो वे समाज के लोग हैं। दूसरे विशषज्ञों की ज़रुरत नहीं पड़ती समाज को। वो अपना काम ख़ुद करना जानता है अपने इलाक़े में। पानी में भी ऐसा ही है। यह बाद में समझ आया। राजस्थान का जो यह पहला दर्शन हुआ उससे फिर हमने और कुंड और टांके देखे और फिर यह सब समझना शुरू किया। लेकिन मैं आज भी कहूंगा कि सन् 80 के आसपास काम शुरू हुआ। आज 20 साल हो गए। आज भी राजस्थान के पानी का सब कुछ पता हो गया, कोई ऐसा भाव नहीं है।

राजस्थान के बाद इस तरह की उत्सुकता फिर और प्रदेशों के लिए भी जगने लगी होगी।

हम लोगों ने यह भी देखा कि कोंकण में पानी इतना अधिक गिरता है लेकिन फिर भी पानी की खूब समस्या है। तो यह समझ में आया कि पानी गिरा नहीं कि फिर जाकर समुद्र में मिल जाता है। पश्चिमी घाट में, कोंकण, गोवा आदि क्षेत्रों में समाज उसके पूरे ढाल में जो चार–पांच तालाब बनाते थे, वो इस दौर में नष्ट हो गए। इसका मतलब ज्ञान तो चेरापूंजी में भी है और यहां भी है पहले भी रहा है। एक बड़ा फ़र्क़ यह हुआ कि लोग कहते है कि अब क्यों अकाल पड़ रहा है पहले क्यों नहीं पड़ा। तीन इंच जहां पानी गिरता है या 9–10 इंच गिरता है और जहां 100 से ऊपर गिरता है उन दोनों जगहों के समाजों की जीवन-शैली अपने मिट्टी पानी के अनुकूल थी। लेकिन अब पिछले 100 साल में सबको विकास की एक ऐसी चीज़ मिल गई है, जिसके कारण सबको एक जैसा रहना है, एक जैसा खाना है, एक जैसे कपड़े पहनने हैं, एक जैसी फ़सल लगानी है। गेहूं जो हमारे यहां नदी-घाटी का पौधा माना गया—वहां की फ़सल मानी गई—वह हम जैसलमेर में भी देखना चाहेंगे, बीकानेर में भी देखना चाहेंगे; तभी हम उस इलाक़े को प्रगतिशील या विकसित कहेंगे। 3 इंच और 9 इंच पानी में नलकूप (चापाकल) के बिना यह सब संभव नहीं होगा। पूरे अहमदाबाद और उसके बाद वाले हिस्से में सौराष्ट्र वग़ैरह में मूंगफली की खेती आई। लोगों ने एक सी जीवन-शैली अपनाई पर प्रकृति ने एक-सी स्थिति नहीं बनाई। (जलवायु भी एक सी नहीं, वनस्पति भी नहीं हैं) एक-सा पानी नहीं मिलता तो एक-सी फ़सल कैसे लगाते चले आ रहे हैं। तो ये प्रकृति के शायद स्मरण पत्र हैं बीच-बीच में ऐसे अकाल के ज़रिए; कि भई तुम संभल के चलो नहीं तो इससे भी बड़ा ख़तरा आ सकता है।

जब हम लोगों ने यह काम समझना शुरू किया तब कभी भी इसको किताब के रूप में लिखने की हिम्मत हम नहीं जुटा पाए। हमेशा लगता

था कि यह बहुत बड़ा समुद्र है; हमको दो-चार बूंदे मिली हैं हम पूरा नहीं कर पाएंगे। हमारी संस्था गांधी शांति प्रतिष्ठान के सचिव हम लोगों को सब चीज़ें समझाते रहे पिता की तरह। उन्होंने हम लोगों को इस काम में डाला। वे बार-बार कहते थे—तुमने इतनी सब चीज़ें इकट्ठी की हैं, तुम किताब क्यों नहीं लिखते। मेरी कोशिश यह रहती थी जितना हो सके इसको और अधिक समझें। ऐसा न लगे कि 'अध-जल गगरी छलकत जाए'। हमारा पानी का काम छलकना नहीं चाहिए। उसमें से जल-दर्शन होना चाहिए। हमने यह माना कि यह समाज का कुछ हज़ार साल का काम है। हम तो इसको सिर्फ़ 100 पन्नों में समेटने का आरंभिक प्रयास मात्र कर रहे हैं।

हिंदी में पर्यावरण-संबंधी साहित्य का परिदृश्य उल्लेखनीय नहीं कहा जा सकता, ऐसे में आपकी दोनों पुस्तकें न केवल मील का पत्थर साबित हुई हैं बल्कि ताज़ा हवा के झोंके की तरह हैं। बीसवीं सदी के भारतीय परिसर में पश्चिमी तर्ज़ व अंग्रेज़ी का बोलबाला रहा है। ऐसे में इन दोनों पुस्तकों को हिंदी में लिखना एक बड़ा जोखिम व चुनौती थी। लेकिन यह देखकर प्रीतिकर आश्चर्य होता है कि दोनों पुस्तकें व्यापक पाठक समाज के विचार व संवेदना का हिस्सा बन गई हैं और फिर एक दूसरे छोर पर ऐसा भी लगता है कि पुस्तकों को सिर्फ़ हिंदी में ही लिखा जा सकता था। क्योंकि आपकी पुस्तकें इस बात का तर्कसम्मत साक्ष्य देती हैं कि भारत की लोक विरासत और जातीय चेतना अपने भाषा-संसार व समझ में समृद्ध व स्वावलंबी है। इसी बिंदु पर आपका यह कथन बिल्कुल सटीक लगता है कि 'हमने जल प्रबंधन के क्षेत्र में नई-नई शब्दावली ईजाद करके गांव के आम आदमी को ठगा है।'

तो फिर जिज्ञासा उपर्युक्त तीनों बिंदुओं को लेकर है:

1. *हिंदी में पर्यावरण संबंधी मौलिक व गंभीर साहित्य के गहरे अभाव की स्थिति के पीछे किस तरह के कारण आपको सक्रिय लगते हैं और इनका सामना करने के लिए आप कौन से उपाय व सुझाव प्रस्तावित करना चाहेंगे?*
2. *हिंदी में लिखने की मूल प्रेरणा व प्रवृत्ति किन कारणों से हुई और पुस्तकें लिखते हुए किस तरह के संशयों और कठिनाइयों का सामना आपने किया?*
3. *पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा के असर में जिस तरह की अनुवादित पदावलियां हम बना रहे हैं उसके बरक़्स हमारा अपना स्वदेशी जीवन दर्शन व भाषा-संसार जो सच्चा विकल्प प्रकट करता है उसको लेकर आपकी जागरूकता व सोच ने किस तरह से ठोस आकार ग्रहण किया?*
4. *सारतः यह कि भाषा और पर्यावरण को लेकर आप किस तरह की सैद्धांतिकी रचना चाहेंगे।*

पर्यावरण साहित्य हिंदी में नहीं है यह तो लगभग ठीक ही है। जो कुछ उपलब्ध है वह अंग्रेज़ी का अनुवाद है। और अंग्रेज़ी का अनुवाद होना चाहिए इसमें कोई दिक़्क़त नहीं है। लेकिन ज़्यादातर उन चीज़ों का अनुवाद है जो हमसे बहुत परे हैं। हमारे संदर्भ नहीं हैं। हमारे विषय नहीं हैं। हमारी बहस नहीं है। उदाहरण के लिए सोशल फ़ॉरेस्ट्री आई हमारे यहां। उस पर पहले अंग्रेज़ी में साहित्य बन गया। फिर उसका हिंदी में अनुवाद होकर सामाजिक वानिकी में बदल गया। ऐसे हिंदी के साहित्य को मैं अंग्रेज़ी का ही मानता हूं—लिपि बदली उसकी; विचार नहीं बदला।

हमारी संस्कृति में पर्यावरण को लेकर जो मौलिक साहित्य रहा है वह

एक तरह से बिखरा हुआ भी है और मुझे लगता है कि उसे समेटने के लिए गंभीर प्रयास की भी बहुत ज़रूरत है।

शायद अपने समाज को लिपि साहित्य रखने की आदत नहीं थी। परंपरा से एक दूसरे को देते चले आ रहे थे। लेकिन 'सामाजिक वानिकी' पर राजस्थान की कोई संस्था कोई किताब निकाले और उसमें ओरण अनुपस्थित है तो वह सामाजिक वानिकी नहीं है। फिर वह अंग्रेज़ी की ही किताब है। देवनागरी में दिखती है, हिंदी में दिखती है लेकिन उसके भीतर की जो आत्मा है वह शुद्ध अंग्रेज़ी है। वैसी हिंदी का कोई मतलब नहीं है, वैसी गुजराती नहीं है। पर आप पाएंगे कि ये अलग-अलग चेहरे हैं लेकिन उनकी ज़ुबान एक हो गई और इसलिए अगर मूल साहित्य भी दिखेगा तो मूल पर भी अंग्रेज़ी विचार का इतना असर है कि वह मौलिक नहीं बचता।

लेकिन जब हम पर्यावरण को देखते हैं तो हम अपने आस-पास की चीज़ को देखते हैं अपने आसपास के जीवन से कुछ सीखते हैं। और आस-पास के जीवन से सीखने का मतलब वहां का जो समाज है, उसको भी सीखना है। पर्यावरण कोई यही नहीं कि हमने फ़लां-फ़लां पेड़-पौधे देखे हैं। पर्यावरण अपने आप में एक समूचा शब्द है। उसको हम अलग से नहीं देख सकते।

है, समूचा है। अलग से नहीं देख सकते। लेकिन यह देखा तो अलग से ही गया है। समूचा होने के बाद भी उसे टुकड़े-टुकड़े करके देखा है। और हर तीन साल में एक टुकड़े पर ज़्यादा ध्यान गया है दूसरे पर से हट गया है। अगर अपने समाज को लोगों ने खंगाल कर भी देखा है, तो उसमें 'शोध' वाली जिज्ञासा ज़्यादा है। इन टुकड़ों के खंडों के कुल जोड़ को, अखंड को फिर से समझने के लिए नए सिरे से बातचीत करनी पड़ेगी। यह बातचीत पिछले 100-50 साल से बंद पड़ी है। समाज को,

अपने ही लोगों को हमने प्रशिक्षण का विषय मान लिया है। हर चीज़ के लिए हमारे पास में प्रशिक्षण जैसा शब्द है। उसको इस बात के लिए प्रशिक्षित किया जाए। लोगों को शिक्षित किया जाए, साक्षर बना दिया जाए। उसको संगठित किया जाए। जितनी अच्छी सामाजिक संस्थाएं हैं उसमें धर्म संस्थाएं भी हैं, उसमें ईसाई संस्थाएं भी शामिल हैं, संघ की संस्थाएं शामिल हैं—सबके मन में यही उतावलापन है कि हमारा समाज बहुत गिर-पड़ गया है। उसका कोई संगठन नहीं है। उसको संगठित करना है। हम सब भूल गए हैं कि उसका एक विशाल संगठन था। हमने उसको भुला दिया। थोड़ी धूल ज़रूर पड़ गई है उस पर। आज तो उस धूल को साफ़ करने के लिए एक विनम्र सेवक चाहिए। विशेषज्ञ नहीं चाहिए। झाड़-पोंछे वाले लोग चाहिए जो धूल साफ़ करके चले जाएं; उसको कोई उपदेश न दें। फिर उनसे अगर आपकी मित्रता ऐसी बन जाती है तो थोड़ी डांट-डपट भी कर सकते हैं। समाज की ग़लती भी बता सकते हैं तब। लेकिन बिना संबंध बनाए उसमें प्रवेश नहीं किया जाए। हो सकता है कि पिछले 50 साल में हमने कोई नई चीज़ ली हो। तो फिर आदान-प्रदान हो कि भाई आपके पास यह चीज़ नहीं है। जैसे आपको अक्षर लिखना नहीं आता, यह इस समय की ज़रूरत है। सीखना चाहो तो सीख लो। हम साक्षरता केंद्र खोल रहे हैं। लेकिन उस भाव से मत खोलो कि तुम मूर्ख हो, गधे हो। तुमको तो कुछ आता ही नहीं है।

हिंदी में लिखने का सबसे बड़ा कारण है कि अंग्रेज़ी नहीं आती। जो साधारण पढ़ाई मैंने की उसमें अंग्रेज़ी पर कभी ज़ोर नहीं दिया। भाषा के नाते प्रेम किया। अच्छी कौन-सी अंग्रेज़ी है, कौन-सी कमज़ोर है ये भी समझ में आता है लेकिन मैंने कभी अपनी अंग्रेज़ी ठीक करने पर ज़ोर नहीं दिया। इसलिए बहुत से लोगों को जानकर अचरज होगा कि मैं शायद ही कभी अंग्रेज़ी में साल में एक-आध चिट्ठी लिखता हूं। टाट-पट्टी वाले

साधारण सरकारी स्कूलों में से निकला। उनमें भी लोग अंग्रेज़ी सीखते ही हैं। ऐसा नहीं है कि केवल महंगे स्कूलों में सीखते हैं। अच्छे सरकारी स्कूलों में भी बहुत अच्छी अंग्रेज़ी सीखते हैं। पिताजी हिंदी के लेखक थे लेकिन अंग्रेज़ी बहुत अच्छी थी उनकी और भाषा की उनको बहुत गहरी समझ व पकड़ थी। मैंने प्रायः उनके संग्रह में अच्छे अंग्रेज़ी कवियों को और लेखकों को देखा। पर मैंने कोई पढ़ा नहीं उसमें से। जितना कोर्स था उससे संतुष्ट था। शेक्सपियर जितना ज़रूरी था, पढ़ लिया। इससे ज़्यादा फिर कभी देखेंगे पर फिर मौक़ा नहीं मिला।

या चिंतन की दृष्टि से अगर हम देखे तो साहित्य में पश्चिम का साहित्य भी पढ़ना एक तरह से शायद लाज़िमी है।

वह बहुत ज़रूरी है। लेकिन अपना साहित्य ही न पढ़ा हो, अपना चिंतन ही न किया हो, तब केवल पश्चिम का साहित्य पढ़ना किस काम का! पूरब भी तो पढ़ो। अब अगर हमने राजस्थान का पानी कुछ हद तक समझा है तो हम सोच सकते हैं कि इज़राइल में पानी कैसे संभाल कर रखते हैं। उस पर अंग्रेज़ी में किताब हो तो वो देख लें। पर अभी होता यह है कि मोटे तौर पर लोग अंग्रेज़ी का साहित्य पहले पढ़ लेते हैं। पर्यावरण हो या कुछ और हो। फिर उसमें से कुछ अपने इलाक़े की ग्रामीण आंचलिक गंध का जीरे, राई का छोंक वग़ैरह लगा लेते हैं। हम इससे ज़्यादा नहीं जाते। तो हमें तो यह लगा कि यह यात्रा दूसरी तरफ़ से होनी चाहिए। पहले वह कर लें; उसके बाद ज़रूरत पड़े तो यह करें। पूरब समझें फिर पश्चिम उत्तर दक्षिण—कुछ भी करें।

अलग-अलग समाजों में किसी काल खंड विशेष में ऐसे दौर आते हैं कि कोई एक भाषा प्रतिष्ठित हो जाती है। वो उस दौर में जानकारी का, प्रतिष्ठा का माध्यम भी बन जाती है। जैसे पिछले दौर में राज की भाषा फ़ारसी थी तो फ़ारसी को ही सारी दुनिया का आईना मान लिया

गया था। वह दौर गया, फ़ारसी गई, पर कहावत अभी भी बाक़ी है; 'हाथ कंगन को आरसी क्या, पढ़े-लिखे को फ़ारसी क्या।' ताज़ा उदाहरण देखें तो अंग्रेज़ी को सारे ज्ञान का, विवेक का, भंडार मान लिया गया, माध्यम मान लिया गया। वो भाषा है और सब चीज़ें उसमें उपलब्ध हों यह आग्रह नहीं रहना चाहिए। जो जिस भाषा में लिख सकता हो उसे उसमें लिखना चाहिए। उसी में अच्छे से लिख सकता है। तो एक कारण तो यह है कि मुझे अंग्रेज़ी में लिखने का अभ्यास नहीं था। इसलिए हिंदी में लिखा। लेकिन कभी यह सवाल इस तरह से नहीं उठता कि आपने अंग्रेज़ी में क्यों लिखा? अंग्रेज़ी में लिखने वाले से यह सवाल प्रायः नहीं पूछा जाता। (आपके लिए नहीं कह रहा मैं) अंग्रेज़ी लिखने वाले अपने लेखक या लेखिका से यह नहीं पूछते की आपने हिंदी में क्यों नहीं लिखा। हम यह मानते हैं कि यह तो उसका कर्तव्य है जो उसने पूरा किया। हिंदी के साथ ऐसा क्यों हो जाता है इसलिए कि एक काल खंड में एक भाषा का झंडा लग जाता है। कोई अच्छा काम करना है, तो वह अंग्रेज़ी में ही क्यों होना चाहिए? अपने समाज की मुख्य भाषा अगर हिंदी है जिसमें लोग ज्ञान का, विद्या का संचय करते रहे तो आपको धूल हटाते समय भी उसी भाषा में वापस करना होगा। अंग्रेज़ी में लिखने से निश्चित तौर पर जो नीति निर्धारक हैं, आज जो अंग्रेज़ी में काम करते हैं, उन तक ये बात पहुंच सकती है लेकिन उनके निर्णय लेने से ज़्यादा अच्छा होगा कि जिस समाज में से यह काम ग़ायब हुआ है उस समाज की स्मृति में उसे सम्मान से फिर से लौटाया जाए। उसकी कोशिश अगर करनी है तो वो आपको राजस्थानी में करनी पड़ेगी। वो हिंदी में करनी पड़ेगी। वो मराठी में करनी पड़ेगी। वो गुजराती में करनी पड़ेगी। और इन दोनों किताबों के साथ यह बहुत अच्छी बात हुई कि धीरे-धीरे इनको अलग-अलग भाषाओं के पाठकों ने उठाया है। अपने-अपने इलाक़े में अपनी भाषा में इस पर टिप्पणियां की हैं, अनुवाद किए है। मैं ऐसा मानता हूं कि अगर हमने इस

काम को अंग्रेज़ी में किया होता तो एक प्रसिद्ध वर्ग के बीच में ज़रूर यह घूम जाता लेकिन व्यापक हिस्सा उसको चूम नहीं पाता। आज इन किताबों को व्यापक हिस्से का भरपूर प्यार मिल सका है।

दोनों पुस्तकों पर काम ही इसलिए शुरू हुआ कि मन में बहुत संशय था कि हमारा समाज इन सब बातों को कैसे देखता था। पानी का काम तो अपने देश में मरुभूमि से लेकर दूर-दूर तक जहां तेज़ पानी गिरता है, सब जगह था। तो वो तालाब कौन बनाते थे? उनकी पढ़ाई-लिखाई कौन करता था? उनको शिक्षा कौन देता था? इनका ख़र्च वग़ैरह किस तरह से आता था, रख-रखाव कौन करता था। मन में इतने प्रश्न थे और इनके कोई हल नहीं थे हमारे सामने। किसी से भी उसके बारे में हमें जानकारी नहीं मिलती थी। इसीलिए काम शुरू हुआ इन दोनों किताबों पर। पहला संशय इन किताबों के लिखने से पहले का है। दूसरा भी एक दिशा बना रहा पुस्तक लिखते समय भी। आज जिसको हम बहुत हल्के ढंग से परंपरागत ज्ञान कहने लगे हैं, वह इतना बड़ा समुद्र है कि इसमें एकाध डुबकी लगाने से कुछ हाथ नहीं आता है। यह तो कण-कण में व्याप्त है। 7-8 साल की 'मेहनत' के बाद भी कहीं भी जाकर हम लोग अटक जाते। कई बार लगा कि हमारे पास कुछ जानकारियां हैं लेकिन किताब का पूरा एक अध्याय लिखने लायक़ तो कुछ नहीं है। तो हम उसको वहीं छोड़कर एक बार उन इलाक़ों में फिर चले जाते थे। 'राजस्थान की रजत बूंदे' में जो भूजल वाला अध्याय है उससे पहले की किताब पूरी हो गई थी, टाइप में पड़ी थी लेकिन यह अध्याय लिखते नहीं बन रहा था। तो यहां पर किताब बंद करके जैसलमेर चले गए। मैं इस मौक़े पर उनका नाम लेना चाहूंगा। वहां जेठूसिंह भाटी से मिले और उनसे कहा कि भाई यह भूजल वाले मामले में तो हम अटक गए हैं, हमसे आगे नहीं बढ़ा जा रहा है। उन्होंने एक कहावत बताई–इंदर थारी एक घड़ी, भूण थारा

बारह मास। एकदम से जैसे दिमाग़ में बाक़ी सब कौंध गया। अपनी सब जानकारी विधिवत कहीं एक खूंटी पर टांग सकें वो खूंटी नहीं मिली थी तब तक। और वह एक ही अच्छे मित्र से मिल गई।

असल में पिछले दो सौ साल से सारे विचार का केंद्र ही अंग्रेज़ी या पश्चिम माना गया है। इसलिए हमारा पर्यावरण भी इसी तरह का हो गया। हमारे पर्यावरण की बहस भी वही हो गई; जो उनकी बहस है वह हमारी है। मैं अक्सर यह तीन–चार उदाहरण देता हूं। एक दौर में सोशल फ़ॉरेस्ट्री का काम आया। पर्यावरण की चिंता में ऊंघ रहे हम लोग भी 'सामाजिक वानिकी' में चले गए। बिना यह सोचे समझे कि यह सामाजिक वानिकी क्या चीज़ है यानी कि उससे पहले जो अंग्रेज़ों की फ़ॉरेस्ट्री थी उसको कभी हमने असामाजिक वानिकी कहा होता तो उसका सामाजिक संस्करण ढूंढ़ते। पर यह उनकी समस्या नहीं थी क्योंकि उन्होंने कभी जंगल लोगों के माने ही नहीं थे। यानी क्लास और मास में बंटे हुए समाज और वर्ण में बंटे समाज में बहुत फ़र्क़ होता है। मरुभूमि में छोटी–सी–छोटी मानी गई जात का भी झंडा ऊंचा रह सकता था राजा के आगे। पानी का अच्छा काम करने वाले लोग मेघवाल भी रहे हैं और पालीवाल भी। एक ब्राह्मण है और एक जिनको आज अनुसूचित कहा जाता है—दोनों को सिविल इंजीनियर का दर्जा था। ये नहीं है कि मेघवाल इस काम को हाथ नहीं लगा सकता था या पालीवाल इस काम को भला क्यों हाथ लगाए। महाराष्ट्र में हमने क़िस्से सुने कि कोई एक चितपावन ब्राह्मण तालाब खोद रहे हैं तो दूसरे ब्राह्मणों ने आकर उनका विरोध किया है क्योंकि बाद के दौर में यह आने लगा था कि हाथ का काम कुछ घटिया है। ब्राह्मण नहीं करता है ऐसे काम। कभी कुछ अच्छा दौर आता है। कभी कुछ फिसल जाते हैं कभी संभलते हैं।

मैं यह मानता हूं कि किसी भी इलाक़े की जो समस्याएं हैं, वो उसकी

भाषा में सामने आती हैं, उसकी भाषा से ही उसके हल निकलते हैं। अन्ततः भाषा यानी केवल ज़ुबान नहीं है, ज़ुबान एक अंग है। लेकिन जीभ का संचालन दिमाग़ से होता है। तो एक भाषा विशेष का दिमाग़ भी बनता है। वह दिमाग़ वहां के पर्यावरण और उसके समाज से बनता है। उसमें उस समाज की सफलता और असफलता भी शामिल होती है। उसमें उसकी ठोकरों से भी दिमाग़ बनता है। सफलता के फूल व फल के साथ असफलता की भी पत्तियां गिरती हैं पतझड़ वाली। वह भी समाज को, उसकी भाषा को दुबारा खाद बनाकर देती है। अपनी ग़लतियों से भी समाज सीखता है। भाषा और समाज का इस तरह से मैं रिश्ता देखता हूं।

भाषा और पर्यावरण को लेकर अलग से शास्त्र रचने की कोई बहुत गुंजाइश मुझे नहीं दिखती क्योंकि उस भाषा को बोलने वाला समाज उसका शास्त्र रचता ही है। पर माध्यम अलग होता है, जैसे अपने यहां लिखित की उतनी परंपरा नहीं रही। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी अलिखित ही चीज़ें गई हैं। उसका सबसे अच्छा उदाहरण गजधर परंपरा का है। गजधर का मतलब केवल वास्तुकार नहीं रहा। वो इंजीनियर भी था, वो बाज़ार से कितना पत्थर ख़रीदना है, किस दाम ख़रीदना है, किस खदान के पास जाना है इसका भी हिसाब लगाना जानता था। एक तरह से आज जिसको हम कंसल्टेंट, कांट्रेक्टर और आर्किटेक्ट कहेंगे, वह इन तीनों का बहुत अच्छा मिश्रण था। और वह काम करवा कर पूरा का पूरा गृहस्थ को सौंपता था। और उसके बाद उसके संबंध काम करके ख़त्म हो गए ऐसा नहीं होता। वो उसके सुख-दुख में भी साथ होता था। एक तरह से शास्त्र तो उसने रचा है, लेकिन अब माध्यम बदल गया है। वह वाचिक परंपरा से हट गया है, अगर उसको कुछ लिखत-पढ़त से मदद मिल सकती है तो एक अच्छे मुंशी के नाते इसको दर्ज करना चाहिए। लेकिन अलग से

रचने का स्वतंत्र संसार नहीं दिखता मुझे। उतनी मेरी हैसियत भी नहीं है। जो कुछ भी मैंने किया अगर आप इन दोनों किताबों के संदर्भ वाले हिस्सों को देखेंगे तो उसमें बिल्कुल ऐसे लोग है जिनको आज हम हाशिए पर चले गए लोग कहते हैं। उसमें आपको 'विशेषज्ञ' के नाम पते नहीं मिलेंगे, किसी ग्वाले का मिलेगा, किसी सुथार का पता मिलेगा। उन सबसे जितना सीखने को मिला है उसे हमने उनके नाम पते समेत उन किताबों में दर्ज़ करके वापस किया है। यह कोई विनम्रता के नाते नहीं कह रहा परंतु कुछ समय तो हमको अपने समाज में यह वातावरण बनाना चाहिए कि हम विशेषज्ञ नहीं हैं। इस समाज के बेटे-बेटी हैं। इस समाज के लिए मुंशीगिरी का काम कर सकते हैं। उसको अलग से नेतृत्व देने की फ़िलहाल हमारे में गुंजाइश नहीं है। उसने इतना बड़ा काम किया है, उस पर कुछ धूल चढ़ गई है। ठीक से झाड़ू-पोंछे का काम करना चाहिए। इसमें नया शास्त्र नहीं आता। अगर कुछ सामाजिक तौर पर जोड़ना-घटाना हो तो वह भी एक अच्छे मुंशी का काम मानकर आप कर सकते हैं। एक सिद्धांत के तहत समझने की गुंजाइश है। पर उससे कुछ नया रचने की योग्यता आ जाती हो, ऐसा मुझे अभी भी नहीं लगता है।

मरुभूमि में पानी के अलावा वन/ओरण भी महत्वपूर्ण चीज़ है। जिन लोगों ने इसका विचार किया, उसे मरुभूमि में उतारा उसको मंदिर के साथ जोड़ा। एक ही गांव में, 4-5 तरह के वन मिलेंगे। सबका उपयोग अलग-अलग है, नाम अलग है। कुछ पूरे साल-भर खुले रहने वाले जंगल हैं। कुछ एक विशेष परिस्थिति में खोले जाएंगे तो कुछ बहुत भयानक अकाल में ही खोले जाएंगे। प्रकृति का स्वभाव बदलता है। उस बदलाव में भी समाज ने एक छंद ढूंढ़ा होगा। शायद छोटी-बड़ी ठोकर भी खाई हो। फिर समाज ने अपनी ठोकरों से बचने के इंतज़ाम बहुत पुख़्ता किए। लेकिन यह सब काम आपको सबसे अच्छे पर्यावरण

के कोर्स में देखने को नहीं मिलेगा। यह सब काम राजस्थान के वन-विभाग के बहुत से उन लोगों को जो अच्छे सहृदय लोग हैं, जो अपने समाज के लिए आज कुछ करना चाहते हैं तो सोशल फ़ॉरेस्ट्री के माध्यम से कुछ करते हैं, वह वेस्ट लैंड डेवलपमेंट के माध्यम से करना चाहते हैं। ओरण जैसी मज़बूत परंपरा उन्हें याद नहीं आती। ये विचार नए-नए हैं। अब ये सामयिक हैं तो ज़रूर जोड़ो। लेकिन किसमें? मुख्य आधार है उसमें जोड़ना होगा, उसे मिटा कर नहीं जोड़ सकते। होता यह है कि आज उसको मिटा दिया जाता है, और फिर अपनी एक संस्था और आंदोलन के साथ एक नया विचार लेकर हम चले आते हैं। ऐसे में बहुत हुआ तो ग्राम समाज एक मज़दूर की तरह चाकरी करता है। मज़दूर शब्द बुरा लगे तो एक और शब्द हितग्राही लें। लेकिन वह मालिक की तरह शामिल नहीं हो सकता। इसलिए मेरा निवेदन है कि नए शास्त्र की रचना की उसमें गुंजाइश कम होगी। लोगों ने अगर काम बहुत किया है तो उसे नया या पुराना कहकर छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि अगर प्रकृति का स्वभाव नहीं बदला है तो आपको फिर उन इलाक़ों में जंगल उसी तरह से रखने चाहिए जो कुछ साल भर चलें, कुछ दो-तीन साल में विश्राम लेकर फिर से जीवित हो जाएं। अकाल से लड़ने की तैयारी उसी तरह करनी पड़ेगी। ऐसे वन, ओरण आपको जैसलमेर बाड़मेर वग़ैरह में बड़ी तादात में मिलते हैं। उतने संपन्न अनुभव को आज हम ख़ारिज कर देते हैं। इसलिए मैंने कहा कि पहले हमको शास्त्र समझना पड़ेगा फिर उसमें हम नया जोड़ घटा सकते हैं। तो फ़िलहाल मुंशी की भूमिका ज़्यादा विनम्र व व्यावहारिक है। इसमें समाज का सम्मान भी है।

पर्यावरण और भाषा में मैं अंतर नहीं करता। वह एक दूसरे से निकली हुई चीज़े हैं। जिस इलाक़े में अगर समुद्र की लहर टक्कर मारती है तो

वहां की भाषा में आपको उस तरह की ध्वनि गूंजती मिलेगी। जहां मरुभूमि का विस्तार है वहां उस तरह की जीवन–शैली बनेगी। भाषा और वहां का पर्यावरण एक दूसरे से अविछिन्न है। उनको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। अब उसमें अपने को अगर कुछ गिरावट दिखती है तो वह कैसे आई उसे समझना पड़ेगा। उस गिरावट का एक बड़ा कारण यह है कि जो समाज उस भाषा का व्यवहार करता था, इस्तेमाल करता था, हमने उस समाज को भुला दिया है। उसको हमने साक्षरता का विषय मान लिया है, प्रशिक्षण का विषय मान लिया है, ढोर गंवार वाला एक भाव आ गया कि इनको कुछ-न-कुछ सिखाए बिना हम देश को संभाल नहीं पाएंगे। उसमें मुझे लगता है कि नए शास्त्र की पूरी गुंजाइश है। लेकिन उस शास्त्र का जो मुख्य आधार है वह उस समाज को उसकी खोई प्रतिष्ठा वापस करने का होगा। जैसे चीरहरण के क़िस्से हैं न, उस तरह से हमने अपने समाज की प्रतिष्ठा हरण का काम किया है। सत्ता हरण का काम किया है। संपत्तिहरण का काम किया है, अधिकारहरण किया है। तो ऐसे सब शास्त्रों की कसौटी यह होगी कि हम उस समाज को कितना प्रेम करते हैं; उसको उसकी इ़ज़्ज़त वापस करते हैं कि नहीं। एक बार यह कोई करे तो आप उसको फिर मुंशी की भूमिका कहें, रचयिता की भूमिका कहें तो भी चलेगा। समाज अपना काम कर लेगा उसमें से।

आधुनिक चिंतन के अध्ययन से हम यह जानते हैं कि प्रकृति और मानव के संबंध को मोटे तौर पर पौर्वात्य और पाश्चात्य जीवन दृष्टि के बुनियादी फ़र्क़ से भी समझा जा सकता। पौर्वात्य दृष्टि का आग्रह प्रकृति से अहिंसक साझे का नाता बनाता है जबकि आधुनिक पश्चिम इसे मात्र उपभोग की वस्तु मानते हुए इसका अनियंत्रित व हिंसा की हद तक जाता शोषण करता है :

1. इस प्रकाश में संस्कृति और पर्यावरण के अंर्तसंबंध व स्वस्थ

विकास की प्रक्रिया को समझने के लिए आप किस दृष्टि की वकालत करेंगे और क्यों? और इसका किस तरह का प्रारूप प्रस्तावित करेंगे?

2. *असल में अगर हम 'पर्यावरण' की आंख से मानवीय विकास और संस्कृति को परिभाषित करने का उपक्रम करें तो आपकी नज़र में इसके क्या और किस तरह के मापदंड हो सकते हैं?*

यह मेरी सीमा है कि मैंने दुनिया को पूरब और पश्चिम में बांट कर नहीं देखा। मुझे वह मौक़ा ही नहीं मिला। मैंने जब होश संभाला तो पूर्व ही ज़्यादा समझा। उसी में पला बढ़ा। मुझे यह नहीं मालूम कि यह पूर्व कहलाता था और वह पाश्चात्य है। वह खिड़की तो खुली ही नहीं तो हमें तुलना करने का मौक़ा ही नहीं मिला। जो अपनी व्यवस्था मानी जा सकती है, उसी में थोड़ी बहुत गुंजाइश दिखी हमको काम करने की। पहले हमने उसी को समझा और बाद में हमको थोड़ी बहुत इस दूसरी व्यवस्था का पता चला।

विकास की आधुनिक प्रक्रिया में हम रोज़ कुछ नया सोचते करते हैं। उसके बाद जब उसकी ठोकर लगती है तो उसको बदल देते हैं। यह एक स्वस्थ चिंतन नहीं है। तो रोज़ बिना सोचे प्रयोग करने का उदाहरण हुआ कि यह करके देखते है इसमें फंस गए तो फिर वह करेंगे। आज ट्यूबवैल लगा दिए। सारा पानी उलीच दिया। फिर संकट आया तो ट्यूबवैल पर प्रतिबंध तक की बात चल पड़ी। लेकिन दूसरी तरफ़ हमारा पूर्व वाला समाज है जो ऐसा सोचता है कि पानी को ज़रूरत से ज़्यादा उलीचना नहीं है। गति का अंतर है। हमारे यहां मध्यम और मंथर गति है और उन लोगों की गति बड़ी तेज़ है। कोई कहेगा कि यह मजबूरी में है। मैं ऐसा मानता हूं कि यह सोची-समझी भी हो सकती है। राजस्थान में अगर जैसलमेर

में खेती न अपनाकर पशु पालन पर आधारित समाज अपनाया तो उसने यह देखा होगा कि यहां पर अगर हम लंबे समय तक ठीक जीवन जीना चाहते हैं तो पशु पालना ज़्यादा ज़रूरी है। खेत हमको नहीं पुसा सकेंगे। पूरी तरह से हमको वे नहीं टिकाएंगे और फिर खेती के लिए दूसरे इलाक़े हैं देश के। वहां से अनाज का आदान-प्रदान कर सकते हैं। स्वावलंबन में एक यह भी है कि भाई कहीं और से कुछ अपने काम की चीज़ थोड़ी बहुत ले लें। मनाही थोड़ी है। गायों की अच्छी नस्ल यहां तैयार हो, दूध-घी यहां पर तैयार हो और कहीं से मूंगफली ले आएंगे। अब विकास का घमंड है कि नहीं सब जगह मूंगफली, सब जगह गेहूं, सब जगह धारा का तेल। जैसे पंजाब में धान बोना है। पहले अपने यहां धान की खेती तटीय इलाक़ों में और थोड़ी बहुत नदी के किनारे की ज़मीन में होती थी। उसको ख़ूब पानी चाहिए। जब आप मैदानी क्षेत्रों में फैले हुए खेतों को धान के लायक़ बनाएंगे सारा पानी बह कर कहां जाएगा? 25-50 साल बाद आपको पंजाब में ऐसी खेती नुक़सानदेह लगने लगेगी। पर तब बचाना कठिन हो जाएगा उसे। तो यह सातत्य वाले विकास का कोई रूप नहीं है। यह विकास भी नहीं है।

'पर्यावरण' की आंख से अगर हम अपनी पिछली गतिविधियों को देखेंगे तो ऐसा लगता है कि उसमें बहुत सारी हमारी चीज़ों को एक तरह से अस्वीकार किया है। जैसे नदियों के हिसाब से अगर देखें तो हमारे देश में चौदह बड़ी नदियों का जाल है, मुख्य नदियां फिर उनकी कई सारी सहायक नदियां। यह आंख बार-बार यह कह रही है कि भाई तुमने हमारे लिए कुछ भी नहीं किया। तुमने जो कुछ भी किया कारख़ानें बनाए तो कुछ समय विकास ज़रूर हुआ होगा। तुमने अच्छी खेती की, रासायनिक खाद डाली, दवाएं डाली लेकिन तुमने हमें तो नष्ट कर दिया। ये नदियां हमें बराबर अस्वीकृत करती चली आ रही हैं। प्रकृति की अस्वीकृति

में भी एक नम्रता ही होती है। लंबे समय तक तो बताती भी नहीं हैं नदियां। हमें लगेगा की नदी गंदी हो रही है। फिर एकाध बार मछलियां मर गईं तो उसकी ख़बर छप जाएगी चिंता हो जाएगी। बयान हो जाएंगे। लेकिन ऐसी स्थिति हो जाए कि उस समाज को पीने का पानी न मिले। पंजाब हरियाणा में एक बहुत बड़ी समस्या आ रही है। वहां भूजल में नाइट्रेट ज़्यादा है। अब उस पानी को पीने लायक़ बनाने के लिए कुछ करोड़ रुपए तो दुबारा ख़र्च करने पड़ेंगे। दुगुनी ऊर्जा लगानी पड़ेगी। सही भाषा में कहें तो दुगुनी बेवक़ूफ़ी होगी। एक बार दिखावटी तौर पर दो-चार गांवों में इसे साफ़ करने के यंत्र लग जाएंगे। लेकिन पूरे समाज की समस्या इसमें से हल नहीं होने वाली है। पर्यावरण की यह आंख बार-बार चेतावनी देती है कि तुम जिसको विकास मानते हो, हम उसको विकास नहीं मानते। इसलिए बार-बार प्रकृति गुहार लगा रही है, प्रेम से समझा रही है और एक स्थिति में थोड़ा ग़ुस्सा भी दिखा रही है, चपत मार रही है, अकाल के रूप में, बाढ़ के रूप में, किसी बड़ी बीमारी के रूप में।

इसी तरह अगर हम समाज की आंख से भी देखें तो एक लंबे दौर से हम लोग अपनी सब तरह की सामाजिक बातचीतों में बहुत सारे टुकड़े काट रहे हैं। उसमें मानवीय विकास एक शब्द होता है, संस्कृति एक शब्द होता है, पर्यावरण एक शब्द होता है, आर्थिक विकास एक हो जाता, शैक्षणिक विकास एक हो जाता है। मुझे लगता है कि हमारे समाज का स्वभाव इतने सारे टुकड़ों में एक साथ सोचने का नहीं था। दो शब्द हिंदी में बहुत मिलते-जुलते हैं—एक है आंख और दूसरा है पांख। समाज अपनी आंख से भी देखता था और पांख से अपने आपको ऊपर उठाकर एक विहंगम दृश्य भी लेता था—अपने समाज का। ऐसा नहीं होगा कि किसी इलाक़े का आर्थिक विकास अच्छा हो लेकिन पानी का काम छोड़ दिया

गया कि कहीं से भी चुरा लाएंगे, उधार ले लेंगे या इसको भूल जाते हैं। या जंगल का काम अच्छा कर लें पर फिर पानी का काम भूल जाएं। वह इन सब चीज़ों को एक साथ देखता था।

संस्कृति शब्द भी मेरे लिए तो नया ही है उस हिसाब से। ये बहुत हद तक—मुझे कभी-कभी डर लगता है—कि कल्चर का अनुवाद है। एक समाज का अपना एक स्वभाव होता था। कुछ उसके संस्कार भी होते थे। उसमें शिक्षा भी शामिल है, उसकी गति भी शामिल है, उसके तीज त्योहार भी शामिल हैं। यह सब किसी-न-किसी, कोई-न-कोई ढंग से उस समय के पर्यावरण को दर्ज करने के लिए, उसके साथ जुड़े रहने के लिए, उससे अलग न होने की कोशिशों के नतीजे होते थे। जैसे दीपावली केवल दीया जलाने का त्योहार नहीं है। उसको एक बड़े कथानक से जोड़ा गया। लेकिन उसके पीछे पर्यावरणीय आधार भी बहुत है। किसान समाज के लिए पुरानी फ़सल कट चुकी है। अब एक नई फ़सल की तैयारी का त्योहार है। पशुपालक समाज के लिए भी (मरुभूमि भरी पड़ी है ऐसे समाज से) यह एक त्योहार है। उस दिन के बाद से गायें खुले में चर सकती हैं। अंग्रेज़ी के पर्यावरण के ज्ञान के कारण हमारे यहां अति चराई (ओवरग्रेज़िंग) नाम का एक शब्द आया है कि यह सारा समाज जहां भी हरी घास देखता है, अपनी बकरियों और गायों को चरा देता है! इतना अव्यवस्थित समाज होता तो मर चुका होता, उसका पशु भी और उसका पशुपालक भी। उसको कब तक बांध के खिलाना है और कब खुला छोड़ना है, इसके बिल्कुल केलेंडर के हिसाब से दिन तय किए जाते थे। वर्षा के बाद ज़मीन में जो पानी पड़ा है, उससे नई पौध निकलती है, नई घास निकलती है। घास एक निश्चित उम्र तक बढ़कर अपने फल और बीज वग़ैरह बना लेती है। अब वो बीज झर कर गिर चुके हैं। अगले मौसम की घास को उगाने के लिए। इसलिए दीपावली के बाद गोचर में गाय भेजी जा सकती है। उससे पहले नहीं।

तो यह सब बहुत बारीकी से अध्ययन किया था। इसलिए मैं मानता हूं कि पर्यावरण की आंख में सब कुछ आता था।

एक तरह से समूची बीसवीं सदी को प्रौद्योगिकी के अभूतपूर्व विकास की गाथा की तरह भी पढ़ा जा सकता है। इस गाथा का लेखा-जोखा अपने उजले पक्षों को जिस तरह रेखांकित करता है उसमें हमारे समय की मुख्यधारा अक्सर यह अनदेखा कर देती है कि इसका जो अंधेरा पक्ष है वह विकरालता लेते हुए इसके 'उजले' को ख़त्म भी कर सकता है। मेरा प्रश्न इस उजले-अंधेरे को लेकर है:

1. *हमारे समय में विकास और प्रौद्योगिकी के संबंध व दिशा को लेकर आपकी धारणा क्या है?*
2. *खुली अर्थव्यवस्था के पक्षधर माने जाने वाले लोग विदेशी पूंजी व टैक्नोलॉजी के आयात की पुरज़ोर वकालत करते हुए यह दलील पेश करते हैं कि विकास कार्यक्रमों को अंजाम देने के लिए बड़े पैमाने पर न केवल पूंजी बल्कि उन्नत टैक्नोलॉजी की भी ज़रूरत है। इस व इन तरह की नीतियों का पर्यावरण पर क्या प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रभाव पड़ेगा?*

पर्यावरण का थोड़ा बहुत काम हम लोगों ने जो 10-20 साल में समझा और किया है उसमें हमें भाषा का दारिद्रय सबसे ज़्यादा दिखा है। पर्यावरण जितना बिगड़ा है, उतनी भाषा भी बिगड़ी है। इसलिए मैं सबसे पहले विकास वाले मामले को लूंगा।

समुद्र तट, बर्फ़ीले इलाक़े, पहाड़ी इलाक़े, मैदानी इलाक़े, तेज़ वर्षा वाले, कम वर्षा वाले, मरु प्रदेश इन सबमें समाज ने अपने कुछ 200-500 साल के अनुभव से कुछ ख़ास तरीक़े जीवन जीने के अपनाए हैं। उनको आप वहां की रीति कहिए, वहां की संस्कृति कहिए वह एक आकार लेकर

वहां के सारे सदस्यों के बीच में एक अलिखित संविधान की तरह फैल जाता था। हमको ये-ये काम यहां करने हैं; इससे हमारा जीवन आगे चलेगा। समाज के दुख-सुख का भी ख़्याल रखा जाता था। उसके सुख बड़े और दुख कम हों। अगर किसी इलाक़े में पानी की कमी हो तो पानी का इंतज़ाम कैसे किया जाए। जंगलों की ज़रूरत कुछ ज़्यादा है इस इलाक़े में तो जंगल कैसे ज़्यादा-से-ज़्यादा पनपाए जाएं। लोगों को कैसे प्रेरणा दी जाए कि तुम्हारे घर में यह अच्छा काम हुआ तो तुम पेड़ लगाओ या जंगल लगाओ रखवाली करो। या तालाब खोदो।

लेकिन विकास शब्द कैसे आया अपने जीवन में, भाषा में, इसका मुझे अभी बहुत पक्का अंदाज़ नहीं है। यह शब्द अंग्रेज़ी के डेवलपमेंट से आया है, इसमें कोई शक नहीं है। आप अगर पुराने नेताओं के भाषण पढ़ेंगे, संपूर्ण गांधी वांङ्मय जो कई खंडों में चलता है उसमें, विकास शब्द आसानी से नहीं मिलना चाहिए। देश की चिंता गांधीजी को कम नहीं थी, लेकिन एक भी जगह उन्होंने यह नहीं कहा कि इस देश का विकास करना है। यह इलाक़ा बड़ा पिछड़ा है। इस शब्द ने अपने समाज के माथे पर एक ख़ास तरह की मोहर लगा दी है और यह प्रायः पिछड़ेपन की मोहर है। उसमें हम कुछ विकास के टापू दिखाते हैं। किसी भी स्वस्थ समाज में विकास शब्द के बदले उसकी समस्याएं क्या हैं उनको दूर करने की कोशिश अपने-अपने कर्तव्यों से उठती है बजाय एक बड़ी पंचवर्षीय योजना के। विकास वाला शब्द जबसे आया है तबसे मैं ऐसा मानता हूं कि अविकसित इलाक़े ज़्यादा बढ़े हैं, विकसित इलाक़ों के बदले और जिनको हमने विकसित माना बाद में पता चला उन क्षेत्रों ने भी अपनी समस्याएं हल नहीं कीं। आपने उसे बहुत अच्छे से रखा है कि यह उजले-अंधेरे का सारा मामला है। हमने एक हिस्से को उजले में रखा माना और एक को अंधेरे में रखा हुआ माना और अंततः मालूम चला कि अंधेरे

वाला हिस्सा ही बढ़ता चला जा रहा है। उजले वाले हिस्से की दिल्ली में कभी भी पानी की कमी नहीं होनी चाहिए। दिल्ली में कभी भी हवा ख़राब नहीं होनी चाहिए। लेकिन धीरे-धीरे हमें यह लग रहा है कि ये सब इलाक़े भी उतने उजले नहीं रह जाएंगे।

ख़ुद विकास का मामला बड़ा विचित्र है। एक समय में विकास की बात हुई, फिर उससे जब कुछ नुक़सान आने लगे तो एक और आपने नारा सुना होगा कि विनाश रहित विकास। अब विकास में कोई और विशेषण लगाने की ज़रूरत ही नहीं होनी चाहिए। ऐसा नहीं होगा कि निंदा रहित तारीफ़, प्रशंसा यानी प्रशंसा। तो विकास यानी विकास पर उसके आगे विशेषण लगाना पड़ा कि विनाश रहित विकास। फिर उसके बाद एक और आ गया सस्टेनेबल डेवलपमेंट, सातत्य वाला विकास। उसका कुछ अंग्रेज़ी-हिंदी सब कुछ अभी तक घालमेल है—उसमें से कुछ निकल नहीं रहा। मैं यह मानता हूं कि अभी इन महान लोगों के मन में उनकी योजना और स्वभाव में ही सातत्य नहीं है, फिर उनके विकास में तो आ ही नहीं सकता। ये तो एक तरफ़ चलते हैं और बाक़ी सबको कहते हैं तुम भी इस दिशा में चलो फिर वहां टकरा जाते हैं। फिर कहते हैं अच्छा भाई अब रास्ता बदलना होगा। दाएं घूम जाते हैं तो एक बड़ी विचित्र सी स्थिति में सारा समाज दाएं-बाएं घूमता रहता है। जो उसके मुखर लोग हैं, वे जिसको विकास मानते हैं अभी तक उसको परिभाषित नहीं कर पाए हैं। बाक़ी समाज इस समय अभिशप्त है उनके पीछे चलने के लिए। या फिर उसमें एक बहुत बड़ा हिस्सा चुपचाप खड़ा है। चल नहीं रहा है तो हम उसको अविकसित कह देते हैं।

दूसरा इस विकास के कर्ताधर्ताओं के पास कभी भी इतनी राशि नहीं होगी, बुद्धि तो है ही नहीं। इतनी राशि भी नहीं होगी कि वे पूरे देश को सड़कों से पाट दें, पानी का इंतज़ाम कर दें, पूरे देश के वन ठीक कर लें।

एक पंजाब बनाया, एक भाखड़ा बनाया। अगर इतना ही बनाने लायक़ है यह तो मध्यप्रदेश, राजस्थान सबको हरितक्रांति का क्यों नहीं वाहक बना देते? ख़त्म करो इस झगड़े को। हमें तो कोई आपत्ति नहीं है लेकिन पता चलता है कि पंजाब में भी जो हरा रंग किया उसमें हरे रंग के पीछे काला ब्रश चलता ही चला आ रहा है। उसको मिटा रहा है लगातार। उसको हर बार ढक कर छिपाने की कोशिश कर रहे हैं हर साल। दो साल-चार साल ढक सकते हैं। इससे ज़्यादा नहीं ढक पाएंगे। भदरंग बार-बार उभरेगा। आपको शायद याद हो कि पांच साल पहले पंजाब में थोड़ी अति वृष्टि हुई थी और भयंकर बाढ़ आ गई थी। अब ये लोग ऐसा मानते हैं कि बड़े बांधों से बाढ़ रुकनी चाहिए, अकाल से बचना चाहिए। तो पंजाब-हरियाणा में अकाल कभी नहीं आएगा, बहुत अच्छी बात है, बाढ़ भी नहीं आनी चाहिए। पर बाढ़ आई और उसमें छह महीने तक बहुत सारे हिस्सों में पानी फैला तो सिमटा ही नहीं। 6-7 माह रोहतक वग़ैरह इलाक़ों में, पटियाला में खेती योग्य हुआ ही नहीं खेत। एक फ़सल तो बाढ़ में डूबी और अगली फ़सल जब ले सकते थे तब तक उसमें कीचड़ था। एक साल की दोनों फ़सलों को खो दिया। यह कोई विकास का रास्ता, कोई मापदंड नहीं। इसका मतलब है हमने बहुत आगे तक देखा ही नहीं। जो छोटी-मोटी चीज़ें हमारे सामने आ रही हैं हम उनको एक तरह से विकास और विज्ञान में अंधविश्वास रखते हुए पूरी 'श्रद्धा' से अपना रहे हैं। इस श्रद्धा के कारण पानी की कमी आएगी तो हैंडपंप लगाते चले जाएंगे। नलकूप खोदते चले जाएंगे। लेकिन अब हरेक नलकूप ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला कर कह रहा है कि नीचे पानी नहीं है। मैं तुमको पानी नहीं दे सकता।

नई प्रौद्योगिकी ज़रूर अपनाओ। नलकूप लगाओ लेकिन वहां के चार पुराने तालाबों को दुरुस्त रख के अपनाओगे तो नलकूप ज़्यादा दिनों तक

चलेगा। जैसलमेर में इस समय जगह-जगह नलकूप लगे हैं, क्योंकि सरस्वती का पानी मिल गया है। प्रकृति के लंबे कैलेंडर में पन्ने अपने से ज़्यादा हैं। अपने तो साल भर के बारह पन्ने और एक जीवन के मान लीजिए 100 पन्ने हैं, 200 पन्ने हैं, 400 पन्ने हैं। प्रकृति के पंचांग में कुछ करोड़ पन्ने हैं। इन पन्नों में कहीं लिखा है कि एक भरी-पूरी नदी थी। फिर वह सूख गई। वहां एक नदी थी और वो आज ग़ायब है तो नलकूप हमारे तो बहुत ही मामूली छलनी बराबर छेद कर रहे हैं। उनको शाश्वत मान बैठना, उन पर भरोसा करना बड़ी मूर्खता है। जो इस समय के सबसे विद्वान लोग हैं वे इस मूर्खता को न देख पाएं तो वे विद्वान कैसे माने जाएंगे!

अपनी भाषा में जो भी नया शब्द आता है उसको कुछ समय तक उलट-पुलटकर देखना चाहिए। फ़िलहाल हम लोग बिना सोचे समझे शब्दों को अपनाते जा रहे हैं। खुली अर्थव्यवस्था भी एक शब्द है। अब काम में लाना पड़ेगा अपने को आपस की बातचीत में लेकिन उस पर अच्छे लोगों को सोचना चाहिए। अर्थव्यवस्था खुली है या बंद है इस सब की कोई परिभाषा तय नहीं हो सकती। इस समय कुल मिलाकर बड़ी परिभाषा यह है कि वे चाहे जैसा सामान बनाएं, यहां वह बिक सके। यह खुली अर्थव्यवस्था मानी गई, ज़रूरी नहीं कि अच्छा सामान बनाएं और ये भी कि हमारा अच्छा सामान वे अपने यहां नहीं लेंगे। इस अर्थव्यवस्था में बहुत आदान-प्रदान भी नहीं है। अभी एक तरफ़ा ज़्यादा है। उनका सब कचरा हमें स्वीकार करना पड़ेगा। उसमें कोका कोला, पेप्सी, कुछ भी हो सकता है। लेकिन ज़रूरी नहीं है कि यहां की कोई चीज़ भी वहां जाए। यहां से जाएगी तो उनकी शर्तों पर। वहां से आएगी तो भी उनकी शर्तों पर। तो यह चित भी मेरी पट भी मेरी है और तो और उछालने वाले को कहते बंटा तो बंटा मेरे बाप का। दोनों में आपको कुछ नहीं मिलने वाला

है। चित आएगी तो मेरी जीत और पट आएगा तो मैं जीता ही और यह सिक्का तो मेरे पिताजी का है, यह तो मैं लेकर जाऊंगा ही। नहीं तो कम से कम हमें अपना बंटा ही वापस मिल जाता। ऐसी अर्थव्यवस्था में यह सब जो कहा जाता है कि विदेशी पूंजी और टेक्नोलॉजी आयात करने से हमारी बहुत सारी समस्याएं हल हो जाएंगी तो सबसे पहले तो हमें लोगों से बड़ी विनम्रता से पूछना चाहिए कि इस पूंजी में जिसको हम विदेशी पूंजी कहते है, उससे जहां से वह आ रही है उनकी अपनी पूंजी है और अपनी टेक्नोलॉजी है, उससे आपने अपनी कौन-कौन सी समस्याएं हल कर लीं? वह तो कम–से–कम हमको दिखा दीजिए। फिर हम देख लेते हैं कि हमारे किस काम की है। ऐसा खुलापन नहीं है। उस पैसे से हल करने की दिशा उनको मिल गई हो तो यहां भी वह स्वागत योग्य है। विदेशी स्वावलंबन की बात थोड़े समय के लिए भूल सकते हैं। कुछ आदान–प्रदान भी समाजों में हो सकता है कि भाई तुम अपना कोई धेला दे दो, हमारे काम आ जाएगा। लेकिन हम उनसे 90 प्रतिशत सहायता लेकर अपने देश को कर्ज़ में डुबो दें और उसको भी वापस न कर पाएं और जिस कारण से कर्ज़ लिया गया है वह कारण भी न दिखे। यानी जो अपने यहां चारवाक का पुराना प्रसिद्ध वाक्य है ऋणम् कृत्वा घृतम पिबेत। ऋण लेकर घी पिओ। घी तो पियो कम से कम ऋण ले कर। घी भी न पिएं या डालडा पी लें या कि घटिया तेल मिले तो बिल्कुल फ़ायदा नहीं है। इतना तो अपने को ख़ातिर करने लायक़ इंतजाम करना चाहिए। अभी मुझे नहीं दिखता कि इसकी कोई हमने अच्छी समझ बनाई है।

समाज भी कभी दूध से जल जाता है और तब छाछ भी फूंक-फूंक के पीता है। ठोकर खाता है, सबक लेता है और फिर आगे बढ़ता है। उसकी स्मृति में यह सब जमा होता जाता है। पर जब हम बाहर से कोई चीज़ तकनीक अपनाते हैं तो उसमें यह पुराना अनुभव संचित नहीं मिलता।

हम गर्म दूध को छाछ मानकर बिना फूंके पी लेते हैं। मछली उद्योग का उदाहरण हमारे सामने हैं। देश के समुद्र तटीय भाग इस समय घोर कष्ट में हैं। वहां के मछुआरे कई बार दिल्ली की सड़कों पर आए हैं। मछुआरों को दिल्ली में सड़कों पर आने की क्या ज़रूरत है? जो समुद्र की छाती पर खेलते हैं, सड़कों की छाती कहां उनके मतलब की है। लेकिन उनके भीतर क्रोध है; दुख है इसलिए उनको आना पड़ता है। मछली उनके जीवन का आधार है। मछली उनके लिए केवल जीवन नहीं है वह उनकी संस्कृति है। उसने उन्हें पूरा बनाया है। मछुआरों का एक अलिखित नियम होता है। पूरे देश में यह चलता था कि वर्ष में चार महीने वे नदी में, समुद्र में उतरते नहीं थे। चौमासा में मछलियां अंडे देती हैं, अपनी अगली संतति तैयार करेंगी तो उसको पलने-बढ़ने दो। दूसरा नियम मछुआरों के जाल का है। उसमें जो जाली बनेगी उसका आकार एक पक्का होगा; तालाब में उसका अलग आकार होगा, नदी में अलग होगा। जिसको जो पसंद आ गया, उसने वैसा बना लिया ऐसा नहीं है। जाली बिल्कुल तय है। और वह वहां की मछली की बढ़त देखकर तय होती है। किस इलाक़े में कौन-सी मछली की प्रजाति सबसे ज़्यादा पाई जाती है वह चार महीने में छह महीने में निकालने योग्य हो गई तो वह इसमें आ जाए। बाक़ी उसमें से बाहर निकल जाएं। पर जब नई पूंजी और नई तकनीक आई तो ट्रालर नाम की एक चीज़ जुड़ गई। मशीनी नौकाओं के पीछे मच्छरदानी जैसा पतला जाल लगा दिया। मोटर बोट आगे बढ़ेगी और उसमें जो पीछे आता जाएगा वह सब समेट लेगा। फिर बोट पर उसको खोलकर गिराया जाता है, उसमें से जो उनके काम की चीज़ है वो छांट कर अलग कर के बाक़ी वहां पर तड़प कर मर जाने देते हैं। फिर उन्हें वापस समुद्र में फेंक देते हैं। वे समुद्र को प्रदूषित करेंगी।

सारे तटीय इलाक़ों में मछली की कमी हुई है। यह पिछले 10 साल

के विकास के कारण हुई है। अधिक खपत के कारण नहीं हुई। अधिक मारने के कारण हुई है। ज़रूरत नहीं है फिर भी मारकर ले गए। अब वहां के मछुवारे सड़कों पर हैं। इन मशीनी नावों का विरोध कर रहे हैं।

उसी तरह आकाश के साथ हुआ, हवा के साथ हुआ कि जितनी हो सकें हमको चिमनियां ठोकते चले जाना है। वे विकास की नई पताकाएं मानी गई हैं। धुआं न दिखे, मोटर गाड़ियां न हों तो हमें लगेगा कि यह देश या यह शहर विकसित नहीं है। और उसके बाद हम उसे भोग रहे हैं। अब रोज़ विज्ञापन छपते हैं कि दिल्ली में हवा ख़राब है कि यह ख़राब है तो वह ख़राब है। जिस नीले आसमान को महान दादा-दादियों ने, माता-पिताओं ने बुरी तरह से काला कर दिया है, अब हम उनके बच्चों से उम्मीद कर रहे हैं कि वे दीपावली पर पटाखें नहीं फोड़ें और इसे ठीक कर दें!

पिछले दशकों में पारिस्थितिकी-विज्ञान के महत्व को लेकर एक तरफ़ तो हमारी जागरूकता में उल्लेखनीय इज़ाफ़ा हुआ है और हम पर्यावरण-संबंधी समस्याओं के प्रति ख़ासे चौकन्ने भी हुए हैं बावजूद इसके समस्याएं दिन-प्रतिदिन बढ़ती और गहरी होती जा रही हैं, ऐसे में कुछ बरस पहले आपने जल-प्रबंधन के क्षेत्र में लोक समाजों में व्याप्त प्राचीन प्रविधियों की ओर ध्यानाकर्षण करते हुए सरकार व समाज को सचेत किया था कि यदि हमने इन स्वदेशी तकनीकी प्रणालियों को पुनर्नवा नहीं किया तो हमें भविष्य में भयानक परिणामों का सामना करना होगा:

1. *इन समस्याओं से उबरने के लिए राज्य और समाज की भूमिका क्या होनी चाहिए?*
2. *क्या आपको यह नहीं लगता कि वर्तमान समय में पर्यावरण समस्याओं को सिर्फ़ एक क्राइसिस मैनेजमेंट के परिप्रेक्ष्य में देखा जा रहा है? इस बारे में आपकी टिप्पणी क्या है?*

ऐसा जो माना जाता है कि पर्यावरण के विज्ञान के महत्व को लेकर हमारी जागरूकता बढ़ी है। कोई शक नहीं है कि पिछले 20-25 सालों से शायद सन् 1972 के बाद जब संयुक्त राष्ट्र संघ के ढांचे में, उनके सभी सदस्यों ने पर्यावरण दिवस मनाना तय किया। संयुक्त राष्ट्र संघ के ढांचे में पहली बार पर्यावरण कार्यक्रम नाम से एक अलग विभाग खोला गया। फिर संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने सभी सदस्यों से आग्रह किया कि वे भी अपने यहां जल्द-से-जल्द पर्यावरण विभाग बनाएं। पहले तो हमारे देश में विभाग भी नहीं था, एक समिति बनी। संयोजक व 10-20 विद्वान लोगों को लेकर कुछ काम हुआ। फिर समिति को विभाग का रूप मिला। फिर विभाग में से मंत्रालय निकला। जब मंत्रालय बना तो बहुत सारी संस्थाएं भी बनीं और कुछ इधर-उधर जो भी उससे संबंधित काम है वे इधर ख़ूब बढ़े हैं। दिवस बहुत मनाने लगे हैं अब। हम पर्यावरण दिवस मनाते हैं, धरती दिवस मनाते हैं, जल दिवस मनाते हैं। सब दिवस मनाते हैं लेकिन हम वर्ष नहीं मनाते। पर्यावरण को 365 दिन का कारोबार नहीं बनाते। विद्वता की कोई कमी नहीं है लेकिन अपने यहां बहुत पुराना शब्द है 'बेदिया ढोर'। वेदों का बोझा ढोने वाला। एक तरह से गधे जैसा काम है। चार वेद ऊपर रख लिए पीठ पर या दिमाग़ पर और आप कहोगे कि अनुपम मिश्र वेदों का जानकार है! ये तो बोझा ले जाना है। तो पर्यावरण की जागरूकता का ऐसा बोझा अभी बहुत देखने को मिलेगा। पर वह हमारे दिवसों में है, वर्ष में नहीं, आचरण में नहीं है, व्यवहार में नहीं है। सूचना और ज्ञान के इस नए दौर में समाज की रोज़मर्रा की समस्याएं दर्ज नहीं होतीं और उनके हल भी उसमें से नहीं निकलते। ये अपने रास्ते पर चल रहा है वह अपने पर। ये समानांतर रेखाएं हैं। कहीं जाकर मिलती नहीं हैं।

ऐसा नहीं है कि समाज में कोई गिरावट नहीं आई हो। उसका झंडा

हम हमेशा ऊंचा नहीं रख सकते। पूंजी और प्रौद्योगिकी बाहर से आ सकती है पर दिमाग़ और हाथ तो अपने यहां के हैं। अपनी ही योजनाओं ने नलकूपों को कैसे खोदा जिसमें से पानी के बाद अकाल निकल कर आता हो और उन तालाबों की तरफ़ भला उनका ध्यान क्यों नहीं जाता जिनमें पानी के साथ अकाल समा सकता है। तो आज की जो आधुनिक प्रौद्योगिकी है इसने समाज और राज दोनों को भटकाने का काम किया है। इसे हम फिर से दोबारा ठीक कर सकते हैं। कोई भी समाज कितने दिन तक ऐसे भ्रम में रहेगा कि हम अपनी सब समस्याएं हल कर लेंगे लेकिन बिना अपनी बुद्धि का इस्तेमाल किए (क्योंकि बाहर की प्रौद्योगिकी है, बाहर का पैसा है।) इस बार गुजरात में कम से कम तीन हजार गांवों में तालाबों को ठीक करने का अभियान चला है। ऐसा नहीं है कि उनके पास नलकूपों का पैसा नहीं है, उन्होंने 150 करोड़ रुपया इकट्ठा किया जो आज तक किसी संस्था और आंदोलन ने नहीं किया। छह महीने में 150 करोड़ रुपया इकट्ठा करके अपने अकाल को हल करने की कोशिश बहुत बड़ा लक्षण है। उसमें सरकार भी शामिल हुई बाद में। किसी एक को तो पहल करनीं पड़ेगी। समाज और राज की तो यह जुगलबंदी है और इसमें बेताल कोई न हो, बेसुरा कोई न हो—इसका ध्यान रखना पड़ेगा।

राजस्थान समाज के आगे मैं इसलिए नतमस्तक हूं कि उसने ओरण की व्यवस्था सैकड़ों वर्षों पहले निकाली। ओरण यानी एक ऐसा जंगल जो केवल अकाल के समय में खुलेगा। इसका मतलब एक ऐसा कुआं जो केवल आग लगाने पर उसे बुझाने के काम में आए। मतलब उसको पीने के लिए या नहाने के लिए नहीं लगाना है। ऐसे विशेष जंगल उन्होंने बनाए। इसका यह मतलब नहीं कि राजस्थान में अकाल नहीं आते। अकाल ख़ूब आए लेकिन उनसे लड़ने की और उनको सहने की हमारी

तैयारी पक्की रखी। लड़ना भी शब्द नहीं रहा। अकाल भी हमारे परिवार का एक हिस्सा है। प्रकृति आज थोड़ा-सा ज़्यादा पानी बरसा गई है कल थोड़ा कम गिरा देगी। तो उसके स्वभाव को देखना है। उन्होंने एक अंदाज़ लगाया होगा अपने 500 पीढ़ियों के इतिहास में से। हर 13-14 साल में वर्षा कम हो जाती है, अकाल पड़ता है। तो अपने को 12-13 साल तक एक जंगल को बचा कर रखना है। ओरण का जो अलग-अलग बंद और खुलने का समय है वह भी तय किया गया। पूजा और मंदिर से भी जोड़ा गया, वह तो इसलिए कि उनको बड़े पैमाने पर कोई चीज़ करनी थी। वह धर्म से जुड़े बिना नहीं हो सकती थी। लोहिया जी की सबसे अच्छी परिभाषा है धर्म की। उन्होंने यह कहा कि धर्म एक दीर्घकालीन राजनीति है और राजनीति एक अल्पकालीन धर्म है। जो भी आप को पांच दिन के लिए पद मिले, पांच साल के लिए उसको धर्म मानकर अपनाना चाहिए। किसी समाज में कोई बात कुछ हजार साल तक के लिए पहुंचानी है तो उसे धर्म से जोड़ा। ओरण बनाया, उसे मंदिर से जोड़ा। नहीं तो उसको वन-विभाग से जोड़ना पड़ता और वह देखते-देखते उजड़ जाता।

जिनको हम पर्यावरणीय या प्राकृतिक विपदाएं मानते हैं ये विपदाएं नहीं हैं। ये हमारे रोज़मर्रा के हिस्से हैं। उनसे हमको खेलना आना चाहिए। फिर हम उनसे आनंद के साथ खेल पाएंगे।

लेकिन व्यापक निष्क्रियता जो समाज में आ गई उसके लिए क्या उपाय करने होंगे?

समाज में एक व्यापक निष्क्रियता आई है तो समाज को उसका दंड भुगतना भी पड़ेगा। इतनी खुशफ़हमी में नहीं रह सकते कि समाज पर कभी विपत्ति न आए। सजग नहीं रहेंगे हम तो विपत्ति आएगी। फिर भोगना भी पड़ेगा। विनोबा जी एक बहुत अच्छी बात कहते थे कि यह

दौर स्वतंत्र ठोकर खाने का है। आपकी ठोकर से मैं नहीं सीखूंगा। आप कहोगे कि भई इसमें तुम्हारा अंगूठा टूटने वाला है पर मैं कहूंगा कि मैं खुद तोड़ कर देखूंगा आप कौन होती हैं मुझे सलाह देने वाली! तो स्वतंत्र ठोकर खाने का ज़माना है तो खाते जाओ भई। अगर लोग न सुनना चाहे तो आप क्या करेंगी। अभी तक अकाल की इतनी चर्चा है, इसलिए पहली बार तालाबों पर ध्यान गया है। लेकिन कल अच्छा पानी गिरा सब लोग अगर इसको भूल जाते हैं तो फिर क्या करेंगे। और अगर मुखर लोगों का यानी जिनके हाथ में संपत्ति है, सत्ता है, योजना है उनका ध्यान ही नहीं गया तो क्या कर सकते हैं?

प्रकृति को स्वस्थ तरह से बरतते हुए मनुष्य की रचनात्मकता की यह बहुत सुंदर मिसाल है कि एक ही क्षेत्र में ईजाद की गई व प्रचलित प्रणालियां कमोबेश उसी भौगोलिक व पर्यावरणीय संरचना वाले अन्य क्षेत्र में बिल्कुल भिन्न तरह से आविष्कृत की जाती है। मानो वे एक ही स्रोत (लगभग एक ही तरह की पारिस्थितिकीय परिस्थितियों) से निकलने वाली दो अलग-अलग कृतियां हों। ऐसी आपस में भिन्न प्रणालियों को क्या एक दूसरे क्षेत्र में अवस्थित व अपनाया जा सकता है उन प्रणालियों की भिन्न चारित्रिकताओं को बरकरार रखते व उनसे सीखते हुए?

क्योंकि अमूमन हम अधिक-से-अधिक इन दिनों आधुनिक प्रौद्योगिकी और स्वदेशी प्रणालियों के बीच आवाजाही व सामंजस्य की संभावनाओं को लेकर तो बात करते हैं लेकिन आपस में भिन्न प्रणालियों के परस्पर एक दूसरे के क्षेत्र में अपनाई जा सकने वाली संभावनाओं को अनदेखा कर देते हैं। उदाहरण के लिए लातिन अमेरिका, अफ्रीका, भारत तथा दक्षिण एशिया ये सभी ट्रॉपिकल और सब-ट्रॉपिकल रिज़न्स कहलाते हैं,

इस तरह से इन जगहों में काफ़ी समानता है। भारत की तरह की लातिन अमेरिका, अफ़्रीका और दक्षिण एशियाई है तो क्या हम उन तकनीकों को जान कर व समझ कर व उनमें आपसी तालमेल स्थापित कर उन्हें वर्तमान समय में प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग व उपभोग के एक सुदृढ़ व ठोस विकल्प की तरह नहीं अपना सकते?

परस्पर सीखने में तो कोई बुराई नहीं है, लाभ-ही-लाभ है। अपनी अच्छी चीज़ें दूसरे तक पहुंचाना, दूसरों की अच्छी चीज़ें अपनाना। मुख्य इसमें विवेक है कि हमारे योग्य क्या है। और दूसरा न तो भावुकता में और न किसी हीन भावना में उसको अपनाना चाहिए कि यह पश्चिम से आई है इसलिए बहुत अच्छी होगी और ये अफ़्रीका से आई इसलिए कमज़ोर होगी। इन सब जगहों के समाजों का अपना एक इतिहास है कुछ हज़ार साल का। कोई भी नया समाज नहीं है। उन्होंने अपने आस-पास की मिट्टी, पानी, हवा से कुछ देखकर अपने लायक़ चीज़ें ढूंढ़ ली होंगी। हम नए नायक की तरह जाकर कुछ झंडा लगाएंगे। यह ठीक नहीं है। हां परस्पर प्रशंसा की जा सकती है और आदान-प्रदान की भी गुंजाइश है। उदाहरण के लिए पूरी दुनिया में जितने भी पर्वतीय क्षेत्र हैं उन सबमें पानी ऊपर से नीचे तेज़ी से बहता है। हर समाज ने चाहे वह अनपढ़ रहा हो, पढ़ लिख गया हो, ग्वाटेमाला का हो कोई भी भाषा बोलता रहा हो, आर्थिक स्थिति उसकी स्विट्ज़रलैंड, नेपाल जैसी हो हिमाचल जैसी हो— उसने घराट को ढूंढ़ ही लिया। घराट यानी पनचक्की। बहते पानी को एक जगह रोकना, उसको चलाना, उससे आटा पीसना। इस घराट में बढ़ई, लोहार और टकेरे, पत्थर टंकने वाले इन तीन की विद्वता का सर्वोत्तम जोड़ मिलेगा। ये पानी की ताकत को ठीक तरह से पहचानते थे। कितना पानी रोकना है हौद में, उसे कितनी ऊंचाई से गिराना है ताकि वह घराट का चक्का चला दे, आटा पीस दे ठीक से। कुल मिलाकर

अपने सभी समाजों में श्रद्धा रखने का बड़ा उदाहरण यह घराट है। अब अंग्रेज़ी में जिसे ट्रांसफ़र ऑफ़ टेक्नोलॉजी कहा जाता है उसे यह छोटी-सी घराट निरर्थक शब्द बना देती है। जो उपयोगी तकनीक है उसका ट्रांसफ़र समाज में हो ही चुका होगा।

अगर हमारी कोई समस्या ऐसी नहीं आई जो हमारे समाज की ताक़त से हल नहीं हो सकती है और वैसी समस्या पहले कहीं आ गई है, उसके हल की दिशा में कुछ प्रयत्न किया गया है, तो उससे सीखने में क्या नुक़सान है। अगर ब्राज़ील से कुछ हमको अच्छा सीखने को मिलता हो और हमारा जंगल थोड़ा भी सुधरता हो तो स्वागत है। लेकिन उसको अपनाने से पहले मेरा ज़ोर है कि अपने समाज को खंगाल कर पूरी तरह से देख लेना चाहिए कि हमारे पास कोई ऐसी चीज़ तो नहीं है जिसकी तरफ़ हमारा ध्यान नहीं गया है। तो मिश्रण होना चाहिए, बाहर का हो, अपने अलग प्रदेशों का हो अच्छी बात है। आदान-प्रदान में कोई दिक़्क़त नहीं है। इस तरह की संभावनाओं पर लोगों का ध्यान जाना चाहिए, अभी नहीं है। लेकिन होना चाहिए। जैसे अभी एक उदाहरण है कि राजस्थान वाली किताब को पेरिस की किसी संस्था ने देखकर के कहा कि फ़्रांसीसी भाषा मरुभूमि में बहुत बोली जाती है। अगर इसमें से कुछ सूडान देश में काम आ सकता है तो इस किताब का उन्होंने अनुवाद किया। इसी तरह से ब्राज़ील ने भारत के गोवंश को अपनाया है। वहां उन नस्लों ने बहुत अच्छे परिणाम दिए। वहां पर यह बहुत सफल प्रयोग रहा। यहां तक कि ब्राज़ील ने कुछ सिक्के भी जारी किए थे इस नस्ल पर। तो आज अगर हम इस तरह की पारस्परिकता को अपनाएं तो एक बेहतर हल निकाला जा सकता है।

बीती अर्धसदी के परिदृश्य में भारतीय राष्ट्र व समाज के पुनराविष्कार के लिए 'स्वयंसेवी संस्थाओं' की भूमिका का विशेष अवदान रहा है

चाहे वह विकास या समाज कल्याण या फिर पर्यावरण का ही क्षेत्र हो। आरंभ में इन संस्थाओं ने बहुत मूल्यवान व सराहनीय काम किए हैं, लेकिन पिछले एक दो दशकों में इन संस्थाओं पर गंभीर आरोप लगाए जा रहे हैं और ऐसा लगता है मानो वे अपने उद्देश्य व आदर्शों से च्युत हो गई हैं :

1. *पर्यावरणसंकट व इसको लेकर जागरूकता व शिक्षा फैलाने में आप स्वयंसेवी संस्थाओं की भूमिका पर क्या सोचते और इन्हें कितना महत्व देते हैं?*
2. *ग़ैर-सरकारी संगठन अक्सर विदेशी पूंजी पर निर्भर करते हैं आपको यह किस हद तक ज़रूरी व जायज़ लगता है?*

हमारे मित्र राजीव वोरा इन संस्थाओं के बारे में एक बहुत अच्छी उपमा देते हैं : स्वस्थ समाज में स्वयंसेवी संस्थाओं की ज़रूरत ही नहीं। उसके अपने ऐसे संगठन हैं जिनमें से वह अपने को चलाए रखता है जैसे ओरण वग़ैरह की बात है। तालाब हैं। गांव में इतने सारे तालाब थे, मरुभूमि में सब जगह। इनको किसी स्वयंसेवी संस्थाओं ने नहीं बनाया था। आज से 50-100 साल पहले लोग अपने आप बनाते थे। उनको कैसे बनाना, कैसे उसकी योजना तय करना, उसके लिए पैसा कहां से लाना है इत्यादि। इसके लिए विश्व बैंक से पैसा नहीं आता था, कहीं दूसरी जगह से नहीं लाना पड़ता था। स्वस्थ समाज को संस्थाओं की ज़रूरत नहीं पड़ती। वैसी स्थिति में समाज ही सबसे बड़ी संस्था होती है। वह राज्य से भी बड़ी संस्था होती है।

अगर समाज स्वस्थ नहीं रहता, उसकी कोई एक गतिविधि पर असर आ जाए, कमज़ोरी आ जाए तो उसको पूरक भूमिका की तरह स्वयंसेवी संस्था उठा सकती है। टूटी टांग को सहारा देने वाली बैसाखी की भूमिका।

बैसाखी जितनी ही होनी चाहिए। इसकी भूमिका यह होनी चाहिए कि उस अंग विशेष की कमज़ोरी को दूर कर दे और फिर हट जाए। अभी ज़्यादातर संस्थाएं समाज के किसी एक कमज़ोर लक्षण के कारण खड़ी होती हैं। आंदोलन हो या समाज सेवी संस्थाएं हों वे पैसा देशी लाती हों या विदेशी लाती हों; स्वभाव उनका यह है कि वे समाज से ऊपर हैं। वे उसका हिस्सा हैं यह ताज़ा स्वभाव नहीं है। उनका स्वभाव अपने आपको समाज का एक उद्धारक मानने का और अपने को समाज से भी ऊपर मानने का बन गया है। वे अपने को समाज का हिस्सा नहीं मानतीं। संस्थाओं में घमंड बहुत है। वे शिक्षा का काम करती हों, पर्यावरण का कर रही हों, श्रमिकों के बीच में कर रही हों, उनको लगता है कि उनके बिना समाज की कोई गति नहीं है। अच्छी स्वयंसेवी संस्था की भावना यह होनी चाहिए कि समाज के पैर में ख़राबी आए तो हम बैसाखी की तरह इतने दिन इसके साथ रहें। इसके पैर को जल्दी-से-जल्दी ताक़त दें, और फिर हट जाएं। फिर भी अगर समाज को याद रखना है तो समाज ऐसी संस्था को याद रखेगा कि भाई यहां एक संस्था आई थी, उसने हमारे सब तालाब वग़ैरह ठीक किए अब उस संस्था का छोटा–मोटा ढांचा हमने आज भी बरक़रार रखा है। पर संस्था एक समस्या को लेकर काम करना प्रारंभ करती है। संस्था का रोज़–रोज़ आकार–प्रकार बढ़ता जाता है और अंतत: समस्या वहीं-की-वहीं रहती है या वह बढ़ती जाती है! तो संस्था का इस तरह से बढ़ते रहना समाज पर बोझ है और नुक़सानदेह भी है क्योंकि समाज जो काम उस दौर में उंगली पकड़ कर शुरू कर सकता था वह कर नहीं पाता। उसे शुरू ही नहीं करने दिया जाता। इसलिए हम यह मानते हैं कि अच्छी संस्थाओं की भूमिका तो बैसाखी की तरह होनी चाहिए। वे समाज के उस ख़राब हिस्से को ठीक करें और फिर अपने को समेट लें। लेकिन आप देखेंगे कि एक भी ऐसी

संस्था नहीं मिलेगी। राजस्थान वाली किताब में मैंने एक जगह लिखा है कि समाज ने पानी का जो ढांचा बनाया है उसका आकार इतना बड़ा किया कि वह निराकर हो गया। बड़े-से-बड़े आकार की सबसे अच्छी परिभाषा यही है कि उसको निराकार हो जाना चाहिए। फिर दिखाई न दे। नहीं तो आप कहेंगे हमने पांच गांव में काम किया अब हम पचास में कर रहे हैं। पांच सौ में कर रहे हैं। आकार रोज-रोज बड़ा हो रहा है। पहले पांच हजार का बजट था फिर दस हजार का हो गया, फिर पांच लाख का हो गया, पांच करोड़ का हो गया। फिर सबसे बड़ा आकार इस समय किस संगठन का है? आप बताइए?—हमारी सरकार का, जो 5 लाख गांवों में काम करती है। संस्था कोई भी 500 गांवों से ऊपर की नहीं मिलेगी। सरकार भी 5 लाख गांव की हिफ़ाज़त कहां करती है। ऐसी संस्थाओं और न ऐसी सरकारों को कोई याद रखता है? इसलिए आंदोलन संस्थाएं और सरकार भी अब बिल्कुल एक-सी हैं, इस समय। उनके स्वभाव में बहुत अंतर नहीं है। भौगोलिक दूरियों में फर्क हो सकता है। राजधानी में बैठी सरकार दो हजार मील दूर दिखती है तो एक गांव के बीच में बैठी स्वयंसेवी संस्था दो क़दम की दूरी पर है। पर गांव उन दोनों के मन की दूरी एक-सी है। जब तक हम इसे कम नहीं करेंगे, काम करने की शैली की दूरी कम नहीं करेंगे, हम भी उसी तरह से काम करेंगे और इसीलिए कुछ होता दिखता नहीं।

यह एक बड़ी दुविधा है, हमारे बहुत सारे मित्र इसमें हैं और उनमें से अधिकांश ने इस पूंजी का कोई अच्छा उपयोग करके नहीं दिखाया। लेकिन एक-दो ऐसी भी संस्थाएं है जिन्होंने इस पूंजी का अच्छा उपयोग करके दिखाया है। इसमें से तरुण भारत संघ का नाम लिया जा सकता है। हालांकि आदर्श स्थिति यही कि जिस काम को करना है हम वहीं से उसकी ताक़त भी निकालें और पैसा भी निकालें, बुद्धि भी निकालें। हमारे

एक मित्र हैं पौड़ी-गढ़वाल में—सच्चिदानंद भारती। विदेशी पैसा नहीं लेते, सरकार से भी नहीं लेते। उनका कहना है कि अगर इस गांव का जंगल अच्छा करना है तो पूरे गांव की ज़िम्मेदारी है उसके लिए पैसा इकट्ठा करना, काम करना हर तरह से। इसलिए पूरे समय के सामाजिक कार्यकर्ता न होकर एक स्कूल में पढ़ाते हैं, वहीं से उनकी तनख़्वाह आती है। आजीविका सामाजिक काम से वे नहीं लेते हैं। पर 125 गांव में काम करते हैं। यह कोई कम विस्तार नहीं है। लेकिन न तो उनका दफ़्तर है और न घर में कोई ऐसी फ़ाइल है जिसमें 125 गांव की सूची दिखे। किसको दिखाना है? पैसा तो किसी से लिया ही नहीं है। यह बहुत हिम्मत का काम है। ऐसे हिम्मती प्रयोग अभी भी अपने यहां बिरले हैं। तो इसके बीच में कम-से-कम यह समझौता करें कि पैसा वहां से आए लेकिन अक़्ल तो यहां की लगाओ। वह तो अपने पास है।

अर्धसदी के परिसर का पुनरावलोकन करने पर हम पाते हैं कि इन 50 वर्षों में अनेकानेक आंदोलन हुए जिन्होंने एक क्षणिक हलचल व विचारोत्तेजना को तो जन्म दिया लेकिन राजनीति व व्यापक नागरिक-निष्क्रियता के चलते अंततः लुप्त हो गए। पर्यावरण संकट व इसकी चेतना के संदर्भ में आंदोलनों के स्वरूप व इनकी प्रासंगिकता पर आपकी राय क्या है?

कोई भी समस्या उठती है तो धीरे-धीरे उसको कुछ लोग समझते हैं। फिर उसके बारे में कुछ अपनी तरफ़ से काम शुरू करते हैं। आंदोलन को बनने में भी थोड़ा समय लगता है। कभी अचानक वह किसी एक घटना की प्रतिक्रिया में निकल आता है। जैसे चिपको के बारे में बात करें। हिमालय में वन कटे और उसका गांवों पर असर, बाढ़ पर असर और अकाल पर असर पड़ा, यह सब बहुत लंबे समय तक लोगों ने देखा। लेकिन आंदोलन एक झटके में शुरू हुआ। वहां खेल-कूद का सामान

बनाने वाली एक कंपनी को सरकार ने क़ीमती पेड़ काटने की इजाज़त दी। पेड़ का नाम है अंगू। अंग्रेज़ी में उसको ऐश कहते हैं। उससे टेनिस, बैडमिंटन के बल्ले बनते हैं। बहुत हल्की और मज़बूत लकड़ी होती है। लेकिन प्रकृति ने उसे बल्लों के लिए नहीं बनाया था। किसान उससे पहाड़ में जुआ बनाते हैं, हल के लिए। यह हल्का भी रहता है और मज़बूत भी है। किसानों को मना करता रहा वन विभाग कि अभी हमारे पास ये पेड़ देने के लिए बचा नहीं हैं। ये बहुत क़ीमती हैं। यहां 12 हैं वहां 15 पेड़, तुम्हें कैसे दे दें? लेकिन लखनऊ की एक बड़ी कंपनी को दे दिया। सन् 73 की बात है। जहां से पेड़ काटने थे, उसके पास छोटा-सा क़स्बा था गोपेश्वर। इतना छोटा क़स्बा था कि वहां पर कोई होटल नहीं था। संस्था दशौली ग्राम स्वराज संघ और उसके मुख्य कार्यकर्ता चंडी प्रसाद भट्ट इस कटान के विरुद्ध थे। उन्हीं का एक छोटा-सा अतिथि-गृह था। खेल कंपनी के लोगों ने बस स्टेंड पर उतरकर जब पूछा कि यहां कहां रह सकते हैं तो वहां के लोगों ने कहा यहां तो कोई होटल या धर्मशाला नहीं है, लेकिन एक सर्वोदय की संस्था है और उनका एक कमरे का अतिथि-गृह है, पूछ लीजिए, लोग रुका देते हैं। उनको वहीं ठहराया गया। बाद में भट्ट जी को पता चला कि वे लोग आ गए हैं और अपने ही अतिथि गृह में रुके हैं। फिर उन्होंने कहा कि उनको जाकर कहिए कि कल जब पेड़ काटने जाएंगे तो उनको पेड़ों पर लोग चिपके मिलेंगे। पहले अपनी पीठ पर कुल्हाड़ी चलवाएंगे और उसके बाद पेड़ों को काटने देंगे।

सत्याग्रह की एक ऊंची मिसाल है। उनको अपने अतिथि-गृह में ठहराया। लेकिन उनके ख़िलाफ़ घोषणा भी की है कि कल जब वो पेड़ काटने जाएंगे तो लोग पेड़ों पर चिपके मिलेंगे। उसके बाद कभी उनको चिपकने की ज़रूरत नहीं पड़ी। अगले दिन जब कंपनी के लोग गए तो उनको इतने सारे लोग जंगल में मिले थे कि कंपनी के चार लोग क्या

काट लाते। वो तो वापस आ गये। तो इस तरह से किसी एक बड़ी घटना के कारण आंदोलन जन्म लेते हैं लेकिन फिर धीरे-धीरे उनकी अपनी दिशा बदलती है रफ़्तार बदलती है। चिपको के साथ क़रीब दस साल काम करने पर मैं ऐसा मानता हूं कि योजना के स्तर, सरकार के स्तर पर, वैज्ञानिकों के स्तर पर हिमालय को बचाने का एक बहुत बड़ा अभियान इसके कारण चला। चिपको की बातों को लगभग सबने स्वीकार किया। अब फिर किसी तरह से कोई चीज़ अगर थोड़ी कम हो जाए तो मैं ऐसा मानता हूं कि पूरे समय जैसे घुड़सवार घोड़े पर नहीं बैठा रहता। उसको कभी उतरना भी पड़ता है, थोड़ा आराम भी करना पड़ता है। तो हमें अपने आंदोलनों के बारे में भी यह मानना चाहिए कि वे एक रफ़्तार से दौड़ते हैं फिर थक भी जाते हैं, छाया में थोड़ा आराम भी करते होंगे। किस वजह से गायब हो जाते है, इसका कोई एक कारण हम पकड़ नहीं सकते हैं। आंदोलन के भीतर की भी कमी हो सकती है और कभी बाहर भी कमी हो सकती है।

1. *मनुष्य की पर्यावरण के प्रति बढ़ती संवेदना के दौर में शिक्षा के क्षेत्र में पर्यावरण और पर्यावरण के क्षेत्र में शिक्षा के योगदान को आप किस तरह से देखते हैं?*
2. *वर्तमान पाठ्यक्रम की संरचना व गठन को लेकर जो विवाद है उन सबके बीच स्नातक व स्नातकोत्तर स्तर पर पर्यावरण विषय को पाठ्यक्रम में समाविष्ट करने की प्रासंगिकता पर अपनी टिप्पणी से अवगत कराएं?*
3. *हमारे यहां सदियों से तकनीकी शिक्षा ने श्रुति माध्यम के तहत अवस्थित रहते हुए एक लंबा सफ़र तय किया है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक यह ज्ञान मौखिक तरह से ही हस्तांतरित हुआ है। समय व स्पेस में परिवर्तन व परिष्कार के पश्चात*

भी यह शिक्षा-पद्धति प्रामाणिक व प्रायोगिक सिद्ध हुई है। इन सबके बावजूद आधुनिकीकरण ने अपने उदय होने के पश्चात अपेक्षाकृत बहुत ही कम समय में हमारी प्राविधिक शिक्षा-पद्धति को हाशिए पर पहुंचा दिया है और वर्तमान समय में अपने वजूद के लिए संघर्षरत रहते हुए शनैः-शनैः ये स्वदेशी प्रणालियां लुप्त प्राय हो गई हैं। आपके विचार में इन स्वदेशी तकनीकी शिक्षा-पद्धति के अवसान की क्या प्रमुख वजहें रही होंगी? क्या इसका कारण ज्ञान का मौखिक तरह से हस्तांतरण तो नहीं था।

4. *वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में इस स्वदेशी ज्ञान को किस रूप में समावेश करना सबसे ज़्यादा उपयुक्त होगा जिससे मानवीय रचनात्मकता को नयी दिशा प्रदान की जा सके? पारिस्थितिकी विज्ञान के पाठ्यक्रम में इस ज्ञान की क्या भूमिका हो सकती है?*

मेरा अपना जो छोटा-सा अनुभव है उस आधार पर कह सकता हूं कि पर्यावरण के प्रति संवेदना आज बढ़ने के बदले घटी है। दिखती है बढ़ी हुई, लेकिन परिणाम नहीं दिखते उस अनुपात में। अपने सभी पुराने समाजों में इससे ज़्यादा संवेदना थी। उन्होंने अपनी पूरी जीवन शैली अपने उस पर्यावरण के इर्द-गिर्द ढाली थी। उन दोनों में कोई फ़र्क़ नहीं था। ऐसा नहीं था कि पर्यावरण की शिक्षा देने से पर्यावरण मजबूत होगा या पर्यावरण के कारण शिक्षा मजबूत होगी—उस तरह की दो आंखों में यह विषय उन्होंने नहीं बांटा था। फिर एक बिल्कुल भिन्न क़िस्म की शिक्षा प्रणाली अंग्रेज़ों के कारण आई। वह अपने इलाक़े के पर्यावरण से कटी हुई है। वह बिल्कुल एक-सा काम सिखाती है लोगों को। अब चाहे नागालैंड में रहता हो उसको पढ़ने वाला या मरुभूमि में रहता हो, उसको

अपने इलाक़े से कोई मतलब नहीं। सिर्फ़ साधारण शिक्षा ही नहीं, भूगोल की शिक्षा भी वही है। जानकारी सबकी चाहिए लेकिन उसको बचाने के लिए अपनी क्या परंपराएं रही हैं इन सबकी तरफ़ से लोगों का बिल्कुल ध्यान हट गया है। एक दौर पिछले चार-पांच साल में यह भी आया है कि पर्यावरण के अलग से कोर्स बने हैं। प्राथमिक से लेकर महाविद्यालयों तक सभी स्तर पर कोर्स चलते हैं जो शायद आपने भी पढ़े होंगे। लेकिन इस समय जो कुल मिला कर शिक्षा का वातावरण है, उसमें पर्यावरण में अच्छे नंबर मैं ले आऊं, तो ज़रूरी नहीं है कि मैं अपने पर्यावरण की अच्छी रखवाली भी करूं। निचले स्तर पर इसकी शिक्षा की बहुत बातचीत हुई तो उसमें आप वर्तमान शिक्षा के दोषों से भी नहीं बच सकते। पर्यावरण की शिक्षा में भी नक़ल से काम चलेगा। जो लोग शिक्षा की धारा से काट दिए गए हैं, उन्होंने इसको शिक्षा का विषय न मानकर जीवन का विषय बनाया था और जीवन की शिक्षा से बड़ी कोई शिक्षा नहीं होती। उसी में से सब चीज़ें निकलनी चाहिए। इसलिए मुझे लगता है कि पर्यावरण का पाठ बहुत आगे नहीं ले जाएगा। पढ़ा-लिखा समाज इसमें से बनेगा वह विद्वान ज़रूर होगा लेकिन पर्यावरण के लिए अपने को न्यौछावर करने को तैयार नहीं होगा। उस चतुर में इतनी चतुराई होगी कि समाज के, पर्यावरण के संकट में, वह अपने को बचा लेगा!

किसी एक क्षेत्र विशेष के पर्यावरण का आज की शिक्षा में कोई दख़ल ही नहीं बचा है। इसलिए वह अलग-थलग पड़ा विषय बन गया है इस समय। लेकिन वह चोट करता है धीरज से। काफ़ी अत्याचार सहने के बाद। जब ऐसा कोई संकट समाज पर आता है तो मजबूरी में उसे अपने को पर्यावरण से जोड़ना पड़ता है। अपनी शिक्षा को नहीं जोड़ पाता है वह लेकिन अपने व्यवहार को जोड़ता है। उसका सबसे अच्छा उदाहरण गुजरात का अकाल है। शिक्षा को पर्यावरण से नहीं जोड़

पाया होगा गुजरात का बहुत बड़ा हिस्सा। लेकिन उसने अपने कामों को इसी पर्यावरण से जोड़ा और यह तय किया कि हमें अपने सब पुराने तालाबों की मरम्मत करनी चाहिए। जितना हो सके छोटे-छोटे नदी नालों को बांधना चाहिए। एक गांव में किसी सज्जन ने बहुत ही अच्छी बात कही। उससे शायद यह शिक्षा वाला मामला निकलता है। उन्होंने कहा कि हमने इस अकाल में तीन आधुनिक व्यवस्थाओं को असफल होते देखा। एक हमारे घर में पाइप की सप्लाई, दूसरा हमारे खेत का ट्यूबवेल और तीसरे हमारे मोहल्ले में हैंडपंप। तीनों सूख गए इस अकाल में। हमारे तालाब टूटे पड़े थे। तालाब उन्होंने ठीक किये। उसके बाद थोड़ा-सा एक झला गिरा, थोड़ा-सा पानी गिरा। वह तालाब में इकट्ठा हुआ। तालाब ठीक हो गया था। टूट-फूट उसकी उन्होंने ठीक कर दी थी तो पानी नीचे गया और उसने थोड़े ही दिनों में हैंडपंप को चालू कर दिया और फिर नलकूप में भी पानी आ गया। उन्होंने यह कहा कि हमने तीन आधुनिक चीजों को अपने सामने असफल होते हुए देखा और एक पुरानी व्यवस्था, जिसको हम भूल गए थे, जिससे हम कट गए थे, उसको हमने थोड़ी-सी मेहनत करके ठीक किया तो उसने इन नयी चीजों में भी जान डाल दी। इसलिए मुझे लगता है कि शिक्षा में यह बात दूसरे सिरे से जुड़ेगी कि अब हमको अपने स्कूल और कॉलेजों में पानी के प्रबंध के बारे में ऐसी शिक्षा देनी चाहिए या नहीं। बहस तो उठ सकती है। हो सकता है कि ये क्षेत्र अपनी औपचारिक शिक्षा में, तकनीकी शिक्षा में तालाबों की बात करें। इस तरह से शिक्षा भी हमारे पर्यावरण में जुड़ सकती है।

इस पाठ्यक्रम की एक और बड़ी दिक़्क़त दिखती है। सरकारी वाक्य है—कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक। एक स्टैंडर्डराइज़ेशन समाज में चाहिए एक-सी नौकरियों के लिए। लेकिन शायद एक से जीवन के लिए

नहीं चाहिए। सारा जोर नौकरियों का पढ़ाई पर है। जो कि होना भी चाहिए। लेकिन वह बहुत कम लोगों को रोज़गार दे पाती है और उसके बदले बहुत सारे लोगों का रोज़गार नष्ट करती है। एक-सा पाठ्यक्रम होने के नाते। गुजरात में नए-से-नए पानी के प्रबंध के साथ पुराने प्रबंध को भी कम-से-कम पूरक तो माना जा सकता था। पर उसको उन लोगों ने उसमें से हटा दिया। और एक बार जब हम बुरी तरह से ठोकर खा चुके हैं तो हमें लगता है कि इसकी तरफ़ ध्यान जाना चाहिए।

अभी तो पर्यावरण का विषय भी उतना ही नक़ली है जितना बाक़ी पढ़ाई का विषय है। उसका अपने लोगों से कोई संबंध नहीं है।

अंग्रेज़ों के आने से ठीक पहले हमारी शिक्षा व्यवस्था क्या थी इसके बारे में आज कोई जानकारी नहीं बची है। एक तरह से पूरी स्लेट साफ़ कर दी गई है और फिर उसमें अंग्रेज़ी की 'बारहखड़ी' लिखी गई है। कभी-कभी उस स्लेट के प्रति हमारे मन में शुभ इच्छा जग जाती है तो हमें लगता है कि हमारे यहां ज्ञान की बहुत बड़ी मौखिक परंपरा थी। मौखिक परंपरा थी या लिखित थी? इसके भी प्रमाण नहीं हैं अभी अपने पास। धर्मपालजी नाम के एक वरिष्ठ गांधीवादी हैं, उन्होंने इस पर कुछ बुनियादी काम किया है।

उन्होंने मद्रास प्रेसीडेंसी में अंग्रेज़ों के आने से ठीक पहले कैसे स्कूल चल रहे हैं, उसमें क्या विषय पढ़ाया जाता है, कौन उनमें पढ़ने आते हैं इस सबका बहुत विशेष अध्ययन किया है। उनकी शैली बहुत अच्छी है 18-19 साल वे लंदन में रहे। वहां की इंडिया ऑफ़िस में लाइब्रेरी में राज लिटरेचर सबसे अधिक भरा पड़ा है, अंग्रेज़ों के अपने हाथ के हिंदुस्तान के बारे में नोट्स संस्करण सरकारी डायरी वग़ैरह। उन्होंने यह सब निकाला है। आगे भूमिका दी है 70-80 पन्ने की। बाक़ी पीछे पूरा दस्तावेज़ है। उस दौर में लंदन से आए अंग्रेज़ अधिकारी स्कूल का वर्णन

कर रहे हैं। स्कूल की व्यवस्था कैसी होती थी। कैसे पैसा आता था। मंदिर द्वारा संचालित थे। वे अंग्रेज़ ही इन सबका अच्छा वर्णन कर रहे हैं। उसमें देखें तो यह पता चलता है कि ऐसे विषय बाक़ायदा पढ़ाए जाते थे। स्वतंत्र समाज के अपने लक्ष्य थे। वह अपना स्कूल चला सकता है, उसमें एक पाठ्यक्रम होना ज़रूरी नहीं है। राजा की आज्ञा की मर्जी से पाठ्यक्रम नहीं बनते थे। प्रजा की ज़रूरत को देख कर पढ़ाई-लिखाई तय होती थी।

किसी एक शिक्षा मंत्री की सील नहीं लगी थी उस पर। तो बहुत सारे विषय इन स्कूलों में नए-नए होते थे। कुछ ओवरलैप करते थे। कुछ गेप्स भी होते थे। उन्होंने लिखा है कि इन पाठशालाओं के अलावा काफ़ी बड़ा हिस्सा घरों में गुरुओं के माध्यम से पढ़ाया जाता था। इसके अलावा तीसरी एक सीढ़ी रही होगी जो केवल मौखिक परंपरा थी गुरु शिष्य परंपरा की। जैसे गजधर परंपरा, जिसको हम उस समय का सिविल इंजीनियर या वास्तुशिल्पकार मान सकते हैं। कुछ लोग काम करते-करते सीखते थे। लिखा-पढ़ी वाली पाठशालाएं भी थीं और मौखिक व्यावहारिक शिक्षा वाली भी। कौन-सी कितनी ज़्यादा थीं या कम थीं के बदले मैं यह कहूंगा यह दोनों धाराएं एक-दूसरे की पूरक थीं। लेकिन अचानक अंग्रेज़ों के आने के बाद किस तरह से यह टूटा यह तो अभी एक रहस्य है। मैं उसको नहीं समझा सकता। लेकिन इतना ज़रूर कहूंगा कि अपने सबसे अच्छे समाज सेवक जो बुद्धि में किसी से कम नहीं थे, राजा राममोहन राय जैसे लोगों के मन में भी यह बात आई कि अंग्रेज़ों के आने से पहले हमारे यहां शिक्षा थी ही नहीं। कितने बड़े पैमाने पर विस्मृति हुई है। हमारे सबसे अच्छे शिक्षाविद भी कहते रहे कि स्त्रियों की शिक्षा नहीं थी। धर्मपाल जी ने 18वीं शताब्दी में मद्रास प्रेसिडेंसी (तमिलनाडु ही नहीं, उसमें केरल और कर्नाटक सब शामिल थे) के स्कूलों की संख्या में स्त्रियों की हाज़िरी बताई है। क्योंकि एक अंग्रेज़ गया है स्कूल में अपने,

सामने हाज़िरी ले ली है कि कितनी लड़कियां बैठी हैं, कितने लड़के बैठे हैं। उस किताब का नाम है 'द ब्यूटीफ़ुल ट्री'। यह वैसे 20-25 साल पहले की किताब है। वह पुस्तक ज़रूर पढ़नी चाहिए। उससे थोड़ा अंदाज़ लगता है कि अंग्रेज़ों से पहले हमारी शिक्षा कैसी थी। गांधीजी ने शायद गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस में या किसी जगह पर कहा था कि आप इस मुगालते में न रहें कि आपके आने से पहले हमारे यहां शिक्षा नहीं थी। आपके आने से पहले शिक्षा का एक भरा पूरा वृक्ष हमारे पास था जिसकी जड़ें बहुत गहरी गई थीं और जिसकी शाखाओं का अनंत विस्तार था। इस वाक्य से धर्मपाल जी ने अपनी किताब का नाम 'दी ब्युटीफ़ुल ट्री' रखा था।

मुझे लगता है कि दो तरह की शिक्षा रही होगी। एक जीवन की कुछ गंभीर बातों की और दूसरी रोज़मर्रा के काम की। यानी दोनों तरह की शिक्षा का उतना ही सम्मान था। यह सब कैसे नष्ट हुआ? यह मेरा विषय नहीं है इसलिए मैं कह नहीं सकता। लेकिन एक बार हारा हुआ समाज हारता चला जाता है। फिर उसके सिरहाने पर भी कुछ रखा हो तो उसको वह भूल जाता है। उसकी ऐसी मनोदशा हो जाती है। तालाब वाली किताब चूंकि आधार है इन सारी बातचीत का इसलिए दर्ज करना ठीक रहेगा कि तालाब कैसे बनाते थे इसका कोई छोटा-मोटा दस्तावेज़, पुरानी हस्तलिपि संस्कृत में, बोली में बहुत खोजने पर भी हमको कहीं नहीं मिली। फिर एक जगह हमको यह सूझा कि तालाब कैसे बनते थे के बदले समाज ने यह किया कि तालाब ऐसे बनते थे। बना के दिखाया। आप उसे बना लीजिए। तो कैसे बनते के बदले ऐसे बनते थे पर ज़्यादा ज़ोर दिया। एक के बाद एक हर पीढ़ी तालाब बनाती चली गई तो कोई नई चीज़ किसी को सीखने की ज़रूरत नहीं थी। वह नयी रही ही नहीं।

शून्य हो तो सीखना पड़ेगा। जब रोज़मर्रा का काम हो तो फिर सिखाने की ज़रूरत नहीं।

आप प्रतिष्ठा हर लीजिए, तब तालाब कैसे बनेंगे फिर? अपने यहां कभी ऐसी कर प्रणाली नहीं थी राजा की तरफ़ से। क्रूर राजाओं के क़िस्से पिछले 100-150 सालों में हमने सब सुने हैं। पर किसी भी राजा के हाथ में कभी इतनी शक्ति नहीं रही जितनी आज शायद एक कलेक्टर के हाथ में होगी या डी.एम. के हाथ में होगी। जैसे हर्षवर्धन के बारे में कहते हैं कि वे हर कुंभ में अपना ख़ज़ाना ख़ाली कर जाते थे। इसके दो अर्थ हो सकते हैं कि राजा बहुत उदार थे। पूरा ख़ज़ाना वे कुंभ में बांट देते थे। दूसरा शायद ज़्यादा व्यावहारिक है कि उनका ख़ज़ाना इतना कम होता था कि उसे बारह साल में ख़ाली कर जाना कोई कठिन काम नहीं होता था!

आज की सरकार जैसा करोड़ों का और वह भी करोड़ों के घाटे का ख़ज़ाना नहीं रहा होगा। कुछ पैसा देना है तो वहां पर न्यौछावर कर दिया। ऊपर राजा तक बहुत कम राशि पहुंच पाती थी। अधिकांश चीज़ें नीचे छूट जाती थीं। धर्मपाल जी ने अंग्रेज़ों से पहले के भारत में बताया है कि एक अच्छे कृषि संपन्न गांव में से कितनी पैदावार हुई, रुपया या मुद्रा के हिसाब से उसका कितना प्रतिशत वहीं रह गया। उसमें यह पता चलता है कि सबसे बड़ा भाग, अधिकांश हिस्सा वहीं रह जाएगा और वह मंदिर को जाएगा। मंदिर का मतलब चढ़ावे के लिए नहीं। उस समय का मंदिर उस आमदनी को सामाजिक कामों में लगाता था। किसी एक अंग्रेज़ डॉक्टर का वर्णन है कि किसी इलाक़े में चेचक जैसी महामारी फैली है तो मंदिर का पुजारी टीका लगा रहा है।

एक जगह यह वर्णन है कि पुलिस की सारी व्यवस्था मंदिर देखता है। आज हम इसकी कल्पना नहीं कर सकते और उसमें यह भी कि अगर उस गांव में चोरी हो जाती है और पुलिस पता नहीं कर पाती है तो पुलिस के कुल वेतन में से वह रक़म काट के वापस करता है मंदिर। पुजारी कहेगा कि भाई हमसे ग़लती हुई। इतने रुपए चोरी हुए, हम इतने दिन में

पता नहीं. कर पाए। यह इनकी तनख़्वाह में से काट कर जमा किया जा रहा है। इसके बाद कौन-सी चोरी होगी ऐसी कि जो पकड़ में नहीं आ सके! यह स्मृति 200 साल बाद भी पूरी तरह से मिटी नहीं है। अभी इस अकाल में एक गांव का बहुत वर्णन छपा है। गुजरात के राजसमदड़िया नाम के गांव के सरपंच बीस साल पहले अंग्रेज़ी में एम.ए. करके पुलिस की नौकरी में जा रहे थे। पर उन्होंने कहा कि नहीं अपने गांव की सेवा करनी चाहिए। तो गांव में सरपंच बन गये। उन्होंने अभी एक अख़बार के इंटरव्यू में कहा है हमारे यहां अगर कोई अपराध हो, चोरी हो उसकी रिपोर्ट पुलिस में लिखवाने पर हम दंड देते हैं। पुलिस के पास मत जाओ। ग्राम सभा को रिपोर्ट करो। तीन दिन में हम अगर आपका हल नहीं ढूंढ़ पाए तो हम उतना पैसा वापस करेंगे।

आज की शिक्षा प्रणाली में स्वदेशी ज्ञान की रत्ती भर गुंजाइश नहीं दिखती। एक तरफ़ हम देखते हैं कि स्वदेशी शब्द पिछले दो-चार साल में बहुत ऊपर आया है। इसके बाद भी वह व्यवस्था में कोई जगह बना पाएगा ऐसा नहीं लगता। लेकिन एक दौर ज़रूर आ सकता है। जैसे कि गुजरात वाली बात हुई। ऐसे दो-तीन छुट-पुट क़िस्से अगर होते हैं तो लोगों का ध्यान इस बारे में तो ज़रूर आएगा कि स्वदेशी की बात एक सिद्धांत के नाते नहीं व्यवहार के नाते भी ज़रूरी है। जिसकी स्मृति में से जो चीज़ जाती है पहले वहीं वापस आनी चाहिए। पहले समाज के मुख्य हिस्से से जो चीज़ें गईं तो उनके ध्यान में आनी चाहिए। फिर शिक्षा में वापस आएगी, ऐसा नहीं होगा कि शिक्षा के माध्यम से समाज में आएगी, कुछ पूरक भूमिका ज़रूर हो सकती है।

इसलिए अकाल के कारण, कभी बाढ़ के कारण, कभी किसी और चीज़ के कारण ठोकरें लगेंगी। उनको लगेगा कि ये तालाब मामूली गड्ढे नहीं थे। ऊलजुलूल उटपटांग हरकतें नहीं थीं। सोची समझी एक

तकनीकी व्यवस्था का रूप था। लेकिन यह वैसा रूप नहीं था जो आज हम इंजीनियरिंग के पाठ्यक्रम में पाते हैं। उसके पीछे एक सांस्कृतिक आधार था। उसके पीछे तीज त्योहार थे। उसी से लौटना होगा क्या? दो शब्द हैं—समयसिद्ध और स्वयंसिद्ध। अगर कोई चीज़ समयसिद्ध है तो 25-50, 100 साल की उपेक्षा की आंधी उस पर कोई असर नहीं डालेगी। अगर कोई समयसिद्ध है, स्वयंसिद्ध है तो उसे किसी बाहरी चीज़ की कोई ज़रूरत नहीं है। उसने समाज के बहुत बड़े इतिहास की सेवा की है। वर्तमान में वह थोड़ी देर के लिए लुप्त हो गई है। भविष्य में वह वापस आ सकती हो, तो ही वह एक परंपरा या स्वदेशी कहलाएगी। नहीं तो उससे जब छुटकारा मिले, मिल जाने दो। उसका मोह क्यों करें? यह 'हमारी' चीज़ है मोह इसलिए रखना ज़रूरी है? हम तो कहते हैं कि कोई आधुनिकतम मशीन या आविष्कार अगर मरुभूमि को पानी दे दे तो हम कुंड, कुएं व तालाबों को एक म्यूज़ियम बना कर रख दें हमेशा के लिए। चार आने का टिकट लगा देंगे। लेकिन हो यह रहा है कि जिनको हम आधुनिक मानते हैं वह तकनीक, तरीके केवल पानी निकाल सकते हैं। पानी पैदा नहीं कर सकते, पानी का संग्रह नहीं कर सकते। इसलिए लौट कर आपको उसी पर आना पड़ेगा। और यह सब केवल अपने यहां का नहीं—सभी जगह यह अनुभव ठोकर खा कर वापस आएगा।

अभी के विज्ञान की पढ़ाई और 'पारिस्थितिकी विज्ञान' की पढ़ाई में अंतर नहीं है। यह नया है। अपने समाज से कटा हुआ पढ़ाई-लिखाई का कोई भी ढांचा एक तरह से बोझा ही होता है। पर्यावरण विषय भी उसी पद्धति में से निकला हुआ एक विषय है। माध्यम हिंदी हो, अंग्रेज़ी हो यह बहस नहीं है। कुल मिला कर जो ज्ञान दिया जा रहा है, वह अंग्रेजी विचार का दिया जा रहा है। फ़र्क़ समझ में आ गया ना? भाषा हिंदी हो सकती है, सिंधी, गुजराती हो सकती है लेकिन विचार अंग्रेज़ी

का है। दुनिया को देखने का, पर्यावरण को समझने का। उसमें से कोई नई भूमिका बनती हो अभी यह मुझे नहीं दिखता। भूमिका बन ज़रूर सकती है। लेकिन उसके पीछे कुछ लोगों की अच्छी मेहनत और परिस्थितियों का भी हाथ हो शायद। जैसा गुजरात वाले अकाल में चर्चा की। जो वन विज्ञान पढ़ते हैं वह बिल्कुल एक भिन्न क़िस्म की प्रोडक्शन फ़ॉरेस्ट्री है। उस विज्ञान से वनों का कटना लोगों ने देख लिया। तो उसके बाद जब उन्हीं को लगा कि इसमें से कुछ ज़्यादा नुक़सान हो रहा है तो उन्होंने सोशल फ़ॉरेस्ट्री नाम से उसमें से एक छोटा-सा कार्यक्रम निकाला। लेकिन अच्छे-से-अच्छे, ईमानदार वन वैज्ञानिक, अधिकारी के मन में भी यह बात कभी नहीं आ सकी कि अपने यहां सामाजिक वानिकी का सबसे अच्छा रूप तो ओरण परंपराएं हैं। चलो उसी को क्यों नहीं सुधार लें! ओरण शब्द आपको मरुभूमि के एक भी विश्वविद्यालय में देखने, सुनने, पढ़ने को नहीं मिलेगा। यह आज इतना अछूत शब्द कैसे है? उसको विश्वविद्यालय हाथ लगाते हुए क्यों डरता है? चाहे इस सरकार के समय में चाहे उस के। स्वदेशी के समय में हो विदेशी के समय में—सभी इन चीज़ों को हाथ लगाते हुए डरते हैं। इसलिए अभी औपचारिक शिक्षा में यह विषय उस रूप में नहीं उतरेगा, जिस रूप में हमें वह समाज में मिलता है।

जाति, धर्म, संप्रदाय में बटे समाज को एकसूत्र में पिरोने के लिए आप व्यक्ति के पर्यावरण के प्रति संवेदना को कितना कारगर मानते हैं और पर्यावरण के माध्यम से इस तरह की एकता को आप किस रूप में देखते हैं?

बहुत पक्का नहीं कह सकता कि जाति धर्म और संप्रदाय ने समाज को कितना बांटा है और कितना एक सूत्र में पिरो कर रखा है। अभी गुजरात का ताज़ा उदाहरण है जहां पर अकाल के बाद पाटीदार समाज

ने क़रीब-क़रीब दो हज़ार गांवों में पानी का काम शुरू किया। अब वे चार हज़ार गांवों में फैलना चाहते हैं। इतनी बड़ी कोई संस्था नहीं है। इतनी बड़ी कोई सरकारी पहल नहीं। पाटीदार समाज ने अपने आप को एक साल में संगठित करके दो हजार गांव में फैलाया और क़रीब-क़रीब 150 करोड़ रुपया, 1.5 अरब चंदा इकट्ठा किया। यह जाति की एकता के कारण हुआ होगा। उसमें वह गांव भी शामिल है, जिसमें उनकी जाति नहीं है। पर्यावरण के कारण एक हुए, उनको पानी की चोट पड़ी थी। वे हीरों के व्यापारी हैं। उन्होंने देखा कि उनके पास हीरा है, पैसा भी है पर पानी कहीं नहीं बचा। पानी लगातार कम हुआ है गांव में तो उनको लगा कि इन दोनों को फिर से जोड़ना चाहिए। यह एक उदाहरण है। जाति द्वारा जोड़ने का। धर्म ने भी समाज को बांटा है या जोड़ा है यह पक्का नहीं कह सकते। धर्म तो बाद की बात है, संप्रदाय भी समाज को जोड़ कर रख सकते हैं। परिस्थिति कैसी है यह देखना पड़ता है। संप्रदाय या धर्म तोड़ने का ही काम करेगा या जोड़ने का ही काम करेगा ये दोनों ही आवश्यक नहीं है। कभी वह तोड़ भी सकता है कभी वह जोड़ भी सकता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हमें बाड़मेर में एक ओरण में देखने को मिला। ओरण के मंदिर की पूजा मुसलमान पुजारी करते हैं। उनसे हम लोगों ने पूछा कि इस्लाम में तो बुत-परस्ती को अच्छा नहीं मानते। यह तो मूर्ति पूजा हुई वह भी हिंदू देवी की हुई। उन्होंने बड़ी कड़क आवाज़ में उत्तर दिया कि यह देवी साक्षात देवी है, बुत नहीं, पत्थर की नहीं। ऐसा उत्तर शायद सनातन हिंदू भी नहीं देगा कि मैं जिस पत्थर की पूजा कर रहा हूं, वह पत्थर नहीं है। मुसलमान कहे कि मैं तो सामने जो देवी बैठी है उनकी पूजा कर रहा हूं यानी उसमें प्राण है। मुझे लगता है इसका कारण है कि ओरण इतना ज़रूरी है उनके लिए। उस इलाक़े के गोधन के लिए। चराई के लिए। अपने जीवन के लिए। वहां हिंदू हो या मुसलमान, वह उस ओरण

सेवा से जुड़ा रहेगा। उसका नाता ओरण से है। ओरण इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता तो वह अपने धर्म को दांव पर नहीं लगाता।

इसलिए जो आपने कहा है वह सही है कि पर्यावरण उन दोनों को जोड़ के रख सकता है। बटे हुए समाज को भी एक तालाब जोड़ कर रख सकता है क्योंकि वही सबको पानी देगा। इसलिए उसे गंदा नहीं होने देना है तो उसके जो भी नीति नियम हैं उन्हें मानना पड़ेगा।

पर्यावरण-तंत्र को समझने वाले लोगों ने बहुत ही प्रामाणिक तौर पर यह कहा है कि प्रकृति का अपना चेक और बैलेंस होता है। और इसके अंतर्गत यदि कोई भी प्रजाति अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करती है तो उसका अंत हो जाता है यानी कि एक सीमा के पश्चात हर प्रजाति का अवसान होता है। और अब तक के इतिहास में प्रकृति में ऐसा ही घटित हुआ है जो इस तर्क का पुख़्ता साक्ष्य प्रदान करते हैं कि जब भी कोई प्रजाति, प्रकृति की केरिंग कैपेसिटी से ज़्यादा हो जाती है तो अंतर-प्रजातीय प्रतिद्वंद्व के फलस्वरूप स्वयं के विनाश की ओर ही अग्रसर होती है। परंतु इसके साथ-साथ एक और तर्क यह भी है कि चूंकि मानव में बुद्धि है, क्षमता है चीज़ों को जानने समझने और विश्लेषण करने की; मानवीय विकास प्रक्रिया में उस तरह का मुक़ाम नहीं आएगा। फिर भी आज जिस तरह की आपातकालीन परिस्थितियों में हम घिरे हैं उसमें इस तरह के तर्कों के बारे में आपका सोचना क्या है?

नींद में चलना एक बीमारी है। सोते-सोते कोई भी उठ जाता है और चलने लगता है। उसके लिए वह बिल्कुल सहज है पर दूसरों को देख कर लगता है यह कैसी बेवक़ूफ़ी हो रही है। मैं सोचता हूं कि समाज के इतिहास में कई क्षण आते हैं जब वह वास्तव में नींद में चलने लगता है। कुछ लोगों को दिखाई देता है कि यह नींद में

चल रहा है। इसको जागना चाहिए। इस समय का दौर एक सोए हुए समाज का है जो चल रहा है। वह किसी भी समय छत पर से नीचे गिर सकता है। मुंडेर से टकराकर। पर उसे इतना आत्मविश्वास है। उसको लगता है कि वह ठीक सीढ़ियों से चढ़ेगा और उतरेगा और बाद में अपने बिस्तर पर आकर विश्राम करेगा। तो ऐसा नहीं है कि ऐसी दुर्घटना नहीं होगी। इसको हम दूसरे अर्थों में यह भी कह सकते हैं कि कई बार हमें विज्ञान पर अंधश्रद्धा हो जाती है या अंधविश्वास जो विज्ञान के स्वभाव से परे है। पर विज्ञान और वैज्ञानिक भी अंधविश्वास का आधार बन सकते हैं। तभी हमको लगता है कि हम कितनी भी अत्त (अति) करें, हम तो बच जाएंगे। कोई-न-कोई हल निकल आएगा। पहले सारा पानी ट्यूबवैल लगा कर उलीच कर फेंक दो। विज्ञान पानी दे देगा। एक नदी का पानी दूसरी नदी के क्षेत्र में ले आएगा। एक नदी सुखा दें हम, विज्ञान, तकनीक दूसरी नदी ले आएंगे। पिछले कई साल से सुन रहे हैं कि सारी नदियों को जोड़ देंगे हिंदुस्तान की। बाढ़ का पानी अकाल तक ले जाएंगे और शायद अकाल का सूखापन बाढ़ के इलाक़े में आ जाएगा। सूखा गीले में बदल जाएगा और गीला सूखे में। यह अंधविश्वास है आज के सबसे पढ़े-लिखे लोगों का। तो इससे कुछ होता नहीं है। इसलिए हर एक समय में समाज में ऐसी समझदारी, विवेक, आधार चाहिए जिससे वह देखे कि कब वह अपनी कुल्हाड़ी से न सिर्फ़ पेड़ काट रहा है बल्कि उसी तरफ़ बैठा है। दूसरा कब उसने पेड़ काटना बंद कर अपना पैर काटना शुरू किया है। अपने हाथ से अपनी कुल्हाड़ी से अपना पैर काटा। यह इस समय का बहुत बड़ा लक्षण है और उसको यह दिखाई नहीं देता। वह नींद में चल रहा है और अपने आपको जगा हुआ मान रहा है। ऐसे में प्रकृति ज़रूर झटका देती है। अकाल बाढ़ वग़ैरह उसके झटके हैं याद दिलाने के

लिए कि भाई अब तुम जग जाओ, बहुत हो गया। अब जिसको हम मां की ममता वग़ैरह कहते हैं, प्रकृति ऐसे शब्द कभी-कभी भुला देती है और फिर अच्छी तरह से थप्पड़ भी लगा देती है।

समाज के कुछ हिस्से में यह विवेक हो कि वह सोते हुए को हल्के से हिला कर बता सके कि तुम नींद में चल रहे हो। अगर वह भूमिका बिल्कुल समाप्त हो जाएगी तो समाज टकराएगा, गिरेगा।

आपके विचार में किसी भी स्थान के क्लाइमेटिक सेटअप और पैटर्न एक समाज की जीवन-पद्धति व शैली को निर्धारित व निर्देशित करने में क्या भूमिका अदा करता है?

पूरी भूमिका उसी की होती है मैं तो यह मानता हूं। अगर हम अलग-अलग समाजों के रीति व्यवहार इन सबमें परिवर्तन देखते हैं तो यह कोई दुर्घटना नहीं है। यह अगर वहां पानी बहुतायत है तो उसके कारण पानी की आदतें वैसी होंगी, कमी है तो वैसी होंगी। समुद्र के किनारे हैं तो समुद्र जैसा उसका स्वभाव होगा। पता नहीं ऐसा उदाहरण देना चाहिए या नहीं लेकिन बिहार में बड़ी नदियों के किनारे रहने वाले ब्राह्मण भी मछली खाते हैं और पूरा बंगाल तो खाता ही है। लेकिन बाक़ी इलाक़ों में ब्राह्मण मछली खाने की सोच भी नहीं सकते। उसको मांस मानेंगे। पर बिहार, बंगाल में मछली का नाम है जल तरोई। तरोई तो अपने यहां सब्ज़ी है। बिल्कुल यह जल तरोई है। ऐसे नाम भी देने पड़े उनको। उस इलाक़े की जो रीति बनती है जो संस्कार बनते हैं, वह वहां हवा, पानी, मिट्टी से बनते है। बर्फ़ के इलाक़े में अलग संस्कार होंगे। लेकिन इसके बाद भी एक कोई समान व्यवहार भी होता है। और उससे आपको लगेगा कि वह आसपास के उन इलाक़े से भी मेल खाता है। समाज को हम इको ज़ोन में नहीं बांट सकेंगे कि देश में 18 इको ज़ोन है तो 18 संस्कृतियां भी

होंगी! संस्कृति एक ही होगी—मरुभूमि की भी और महाराष्ट्र की भी। लेकिन उनके बीच में अंतर बराबर दिखेंगे।

हम स्वदेशी शब्द सुनते हैं। जीवन शैली भी है। स्वदेशी का मतलब केवल धोती कुर्ता या साड़ी पहनना नहीं। उस इलाके की सब चीज़ों में मन रम जाए। वहां की जो चीज़े हैं उनको अपने भोजन में शामिल करना, उनको अपनी पढ़ाई में शामिल करना यह सब स्वदेशी का हिस्सा है। फिर एक स्थिति ऐसी आई हमारे समाज में कि अपने आसपास की चीज़ों का ध्यान ही नहीं रखना है। उनसे हमारा जीवन नहीं चल रहा। अब जो इस समय हमारे आधुनिक लोग हैं उनका सुबह का नाश्ता, दोपहर का भोजन, रात का खाना हो सकता है दो सौ चार सौ किलोमीटर दूर से आता हो। उनके कपड़े हांगकांग के बने होंगे कि सिंगापुर के। एक अगर औसत अमेरिकी या यूरोपीय व्यक्ति के जीवन का हम विश्लेषण करें तो अधिकांशतः उनकी चीज़ें आस–पास से न होकर दूर–दूर से आ रही हैं। यानी वे अपने निकटतम पर्यावरण पर आधारित न होकर अब दूर-से-दूर के पर्यावरण पर आधारित हैं। चीज़ें बहुत दूर से आती हैं और उस दूरी में भी सघन रूप से निचोड़ी जाती हैं। इस कारण वहां का पर्यावरण बुरी तरह बर्बाद होता है। लेकिन दूर बैठे लोगों को वहां की बर्बादी से कोई लेना-देना नहीं हैं। कहीं से कुछ भी आ सकता है। ताज़ा फल अपने यहां तो फिर भी केला भुसावल का है। लेकिन अमेरिका वग़ैरह में तो 'बनाना स्टेट' से आता है। ये विशेष देश हैं, उनके यहां से केले की फ़सल पूरी-की-पूरी उखाड़ कर अमेरिका की खाने की टेबल पर आती है। बड़ी–बड़ी कंपनियां टमाटर की चटनियां वग़ैरह बनाती हैं। वे इन देशों को गिरवी रखती हैं। वहां से टमाटर पैदा होता है क्योंकि वहां मज़दूर सस्ता है और हवाई जहाज़ से यहां पटका जाता है उनकी टेबलों पर तो, इससे अपने पर्यावरण के प्रति कोई लगाव नहीं बचता है।

किसी भी पारिस्थतिकी-तंत्र के स्वस्थ व समृद्ध होने के लिए अधिकतम जैव-विविधता (bio-diversity) अनिवार्य है और पारिस्थितिकी-विज्ञान का सिद्धांत है कि ***higher the diversity the more stable an eco-system is.***

1. *मानवीय अतिजीवता और विकास को सुनिश्चित करने के लिए आप जैव-विविधता की क्या भूमिका मानते हैं?*
2. *भारत जैव-विविधता के क्षेत्र में एक संपन्न देश है और यहां पर विश्व के गिने-चुने जैव-विविधता के हॉट स्पॉट्स हैं। हमारा पारंपरिक ज्ञान विविध flora और fauna के कई सारे इस्तेमाल और संरक्षण की समृद्ध जानकारी रखता है परंतु उनका कोई लिपिबिद्ध संग्रहण नहीं है। ऐसे में आप वर्तमान IPR संरचना और पैटेंटिंग तंत्र की इस माने में सक्षमता को कैसे और किस तरह से आंकते हैं जिससे कि हम अपनी अमूल्य प्राकृतिक व जैविक संपदा को विकसित राष्ट्रों की लालची व्यापारिक जकड़न से बचा सकें?*
3. *इस तरह के ख़तरों को ध्यान में रखते हुए क्या आपको यह नहीं लगता कि आधुनिक वैज्ञानिक और तकनीकी दक्षता यदि नियंत्रित और व्यवस्थित हो तो हमारी धरोहर को अक्षुण्ण रखने में वह मददगार सिद्ध हो सकती है, जो कि हाल ही में नीम का पैटेंट जीतने से साबित होती है, क्योंकि अगर बी.एच.यू. के प्रो. सिंह आधुनिकतम तकनीक व वैज्ञानिक दक्षता से लैस नहीं होते तो हम इस जीत और अपनी अमूल्य धरोहर के अधिकार से भी वंचित रह जाते?*

कई बार चीज़ हमारे हाथ से निकल जाती है तब हमको याद आती है। जैव विविधता वैसा ही शब्द है। जिन समाजों ने अपनी आदतों के कारण

अपने विचारों के कारण न सिर्फ़ अपने यहां बल्कि पूरी दुनिया में जैव विविधता को नष्ट किया है, उन्होंने यह नया शब्द भी निकाला है। शब्द को आए हुए भी कुछ चार-पांच साल से ज़्यादा नहीं हुआ। इसलिए अच्छा ही है कि इसके कारण कुछ बच-बुचा जाए। लेकिन जो आप का मुख्य सवाल है वह बहुत महत्वपूर्ण है—किसी भी समाज में यह स्थिति जब सब विषयों में होती है तभी वह बचता है। विविधता सिर्फ़ जैवीय नहीं। हमारे यहां ऐसा शब्द नहीं पर ऐसा काम कर रहा है। चाहे अन्न में हो, वनस्पति में हो। उसने उसको जैव विविधता नहीं कहा है। बोलियों में इसके लिए शायद कुछ शब्द मिल जाएंगे तो मुझे नहीं पता। खोजना चाहिए। लेकिन अपने यहां एक पुराना शब्द अन्नब्रह्म भी है। उसमें सब कुछ आ जाता है। उसमें हर तरह का जीवन आता है। सबका विचार भी समेटता है। इसी तरह यहां तीन हज़ार-चार हज़ार या 36 हज़ार धान के बीज थे, गेहूं के बीज थे, इन्हें तो हर वर्ष लाखों किसान लाखों खेतों में बोते थे। वास्तव में वे कृषि पंडित थे। उन्होंने यह देखा कि एक गांव में जितने अधिक तरह के धान हम बोएंगे उतना कम कीड़ा लगने वाला है। मिट्टी, पानी, हवा बदलती है तो बीज भी बदलते गए।

सांस्कृतिक विविधता भी उसमें शामिल थी। सहिष्णुता उसमें शामिल थी। मुख्य तो सहिष्णु शब्द रहा कि सबका आदर करना है। सहना नहीं है। सहना और सहिष्णु होना इसमें अंतर है। इज़्ज़त भी करनी है। इनको भी साथ लेकर चलना है। सब बीजों को सब जीवों को बचाना है। हम ही सृष्टि के केंद्र नहीं हैं। इसीलिए पशुओं में भी ऐसा नहीं रहा कि कोई एक को रखा, बाक़ी को भूल गए। मरुभूमि में और राजस्थान के एक बहुत बड़े हिस्से में *धराड़ी* नाम की एक प्रथा है। वह धारण से बनी है। हर एक गोत्र के, जाति के ज़िम्मे पांच-पांच पेड़ कर दिए जाते थे। सब अपने-अपने पेड़ों की रक्षा तो करते ही थे, दूसरों को

भी नष्ट नहीं करते थे। किसी को यह नहीं कहा कि तुम्हारा देवता सफ़ेदा है उसको लगाओ और पैसे कमाओ। इस समय तो सब जातियों की एक ही धराड़ी है। लेकिन यहां तो एक-एक छोटे-बड़े पेड़ पौधों का ध्यान रख कर उनको पनपने के अवसर बाक़ायदा दिए गए। यह अनजाने में हो गया ऐसा नहीं। एक व्यवस्थित ढांचा उसका खड़ा किया गया था। इसलिए वह जैव विविधता और वह समाज भी लंबे समय तक बचा रहा। आज वह हमको गिरता पड़ता दिखता है तो शायद यह बहुत छोटा इतिहास है।

ऐसा नहीं है कि आधुनिक ज्ञान और उसके ख़िलाफ़ कमर कस लेनी है। अलग-अलग समय के अलग-अलग हथियार होते हैं। जो उनको चलाने में सिद्धहस्त हैं उन्हें उनको चलाने देना चाहिए। हो सकता है कि उन्हीं के कुछ तरीक़े भी अपनाने पड़ें। इसमें कोई विवाद नहीं है। लेकिन विवेक तो अपना होना चाहिए। कई बार तो ऐसा हो जाता है कि हम उनके ख़िलाफ़ लड़ते दिखाई देते हैं पर उनके विवेक से लड़ते हैं, अपने विवेक से नहीं लड़ते।

1. *हाल ही में वन संरक्षण और प्रबंधन की चर्चा सारे विश्व में जोरों से की जा रही है परंतु सदियों से जो वनवासी इन वनों को धरोहर के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक दूसरे को सौंपते आए हैं और इनकी देखभाल करते आए हैं उन्हें पूरी चर्चा में कहीं शामिल नहीं किया जा रहा है। उल्टा उन्हें ही दोषी करार देकर इन वनों से बेदख़ल किया जा रहा है। इनकी आबादी में वृद्धि से जंगलों पर ईंधन और चारे का बोझ बढ़ा है, फिर भी इस पूरे परिदृश्य को आप किस दृष्टि से देखते हैं और क्यों?*
2. *धरती को हरा-भरा करने के चक्कर में वन-विभाग के अफ़सरों ने जो कई सारी exotic प्रजातियां इंट्रोड्यूस की हैं जैसे की*

यूकिलिप्टस (जिसकी वजह से हिमालय में जल-स्तर नीचे चला गया है) और Prospis Juliflora यानी विलायती बबूल (जो कि बावलों बवाल के रूप में जाना जाने लगा है)। इस तरह के बिना सोचे-समझे किए गए introduction हमारी जैव-विविधता के लिए एक बहुत बड़ा ख़तरा है और चूंकि भारत एक जैव-विविधता संपन्न देश है हमारी ज़िम्मेदारी इस संपदा को संरक्षित करने की और बढ़ जाती है। ऐसे में इस तरह के ख़तरों से आपके विचार में कैसे निपटा जाए जिससे कि वर्तमान समय और आने वाले समय में इनकी वजह से कोई बहुत गहरा संकट न पैदा हो?

अंग्रेज़ों के आने से पहले तक जिन्हें हम अंग्रेज़ी के अनुवाद के कारण आदिवासी वनवासी कहते हैं, उनके बड़े-बड़े राज्य थे। मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान वग़ैरह में उनके राज्य थे, उनके जंगल भी थे। अचानक उससे वे बेदखल कर दिए गए। वे अपने ही आंगन में पराये हो गए। उसके बाद समय-समय पर कुछ करुणा, कुछ उद्धार, इस तरह से इनके बीच कुछ काम हुआ वन के प्रश्नों को लेकर। कभी उनको मालिक मान कर काम नहीं किया कि ये एक लड़ाई हार गए थे लेकिन मालिक तो ये ही थे। आज भी आप देखेंगे चाहे सर्वोदय हो चाहे कोई ईसाई मिशनरी हो राष्ट्रीय स्वयं सेवक के लोग हों जो कोई भी वनवासी क्षेत्र में काम करने जाते हैं उद्धार की भावना से ही जाते हैं। उन्हें मालिक मान कर नहीं जाते। 300 साल पहले हमारे आपके पुरखों में से कोई-न-कोई इन वनवासी राजाओं के यहां सलाहकार रहा होगा, नौकर रहा होगा दरबार में। पर इनका मालिक नहीं था। लेकिन अंग्रेजों के आने के बाद इन वनों का इस्तेमाल शुरू हुआ। सबसे पहले रेल के लिए इनको काट के नीचे लाया गया था। अगम्य इलाक़ों में उन्होंने रेल की पटरियां बिछाईं।

वहां के जंगल भरपूर कटे। आज़ादी के बाद भी वही व्यवस्था चली। पिछले दो-चार साल से बात हो रही है कि अब 'संयुक्त वन प्रबंध' करना चाहिए। वन विभाग से वनों का बोझा ढोते नहीं बना। उनके पैर डगमगा गए। तो विभाग ने कहा, 'आप लोग भी आओ इसमें आप भी शामिल हो'। इसलिए 'संयुक्त प्रबंध' की चर्चा में कम-से-कम 'सोलो' के बारे पूछना चाहिए कि इनका एकल प्रबंध कौन करता था। इससे पहले जो जाति और समाज प्रबंध करते थे, उनको प्रयोग के तौर पर एक ज़िला, एक प्रखंड तो सौंप कर देखो।

हम सुनते रहे हैं कि गांव के बोझ के कारण वनों पर बोझ पड़ा, लकड़हारे, लकड़हारिनें वन काट रही हैं। वन क्षेत्रों के नज़दीक हर जगह पेड़ काटने वालों की कतार चलती आती है। पर यह लकड़ी किसके लिए काट रहे हैं ये? यह अपने चूल्हे के लिए नहीं काट रहे। ये लोग लकड़ी शाम को बाज़ार में बेचते हैं। जो आबादी गैस नहीं ले पाई है अभी, चूल्हे से छोटे क़स्बों में काम चलाती है, उनके लिए लकड़ी कट कर आ रही है। सिर का बोझा अपने लिए नहीं है। आदिवासी अपने लिए तो कचरा जला रहा है। क्या जला रहा है यह तो पता ही नहीं। उनका खाना कैसे बन रहा है? इसमें से तो वह दो पैसे बचाता है। इसलिए यह कहना कि उसके कारण नष्ट हुआ, यह तो बहुत बड़ी ग़लती है। इसको हम कब सुधारेंगे? कब उनसे क्षमा मागेंगे? जिनको बिना किसी मुआवज़े के बेदख़ल कर दिया गया, आज उनको ज़मीन के लिए लड़ना पड़ता है, आज उन्हें जंगल के लिए लड़ना पड़ता है, उन्हें पानी के लिए लड़ना पड़ता है। इन तीनों चीज़ों पर उनका पूरा नियंत्रण था। उनका प्रबंध भी बहुत अच्छा था। किसी भी दूसरे समाज से कमज़ोर नहीं था।

कुछ हिस्सों में—पहाड़ों में और मैदानों में—सफ़ेदा नाम का पेड़ लगा है। हिमालय में भी है गुजरात में भी आया है। लोगों ने अनाज बोना बंद

कर यह बोना शुरू किया। कहा गया कि अनाज से ज़्यादा पैसा तो इसमें से मिलेगा। पूरा समाज इसी काम को करने लग जाएं कि अनाज से ज़्यादा तो इसमें से पैसा मिलेगा तो खाओगे क्या? सफ़ेदा खा नहीं सकते। इसी तरह विलायती बबूल का क़िस्सा है। पूरी मरुभूमि इसमें गई और कच्छ भी गया। कच्छ का बहुत बड़ा हिस्सा। दिल्ली वग़ैरह में भी ख़ूब आ गया है। वह तो बिल्कुल एक खरपतवार की तरह बढ़ता है।

तीसरा एक पेड़ और है। इसके प्रति वन विभाग का मोह तो है ही, अच्छी स्वयंसेवी संस्थाओं का भी मोह रहा है। वह है सुबबूल। उसका नाम पहले कुबबूल था। बाद में अपने गुणों के कारण इसे सुबबूल नाम मिला। वह भी किस से?

इस पेड़ की तारीफ़ श्रीमती इंदिरा गांधी को इतनी सुनाई गयी कि उन्होंने पूछा कि अगर इतनी तारीफ़ करते हैं इस पेड़ की तो इसका नाम कुबबूल क्यों है? इसका नाम तो सुबबूल होना चाहिए। उसी दिन से वह सुबबूल हो गया। ऐसे तीन पेड़ों को लगाकर देश को हरा-भरा दिखाने का काम चलता रहा है। यह लीपापोती अपनी ग़लतियों को छिपाने के लिए है। सफ़ेदा तो सिर्फ़ इसीलिए लगता रहा है क्योंकि उसे जानवर नहीं खाते। ऐसे वृक्षारोपण का मतलब क्या जिसको जानवर नहीं खाए। इसका मतलब कि इसे राजनीति वाले, वन विभाग वाले खाते हैं! जो किसी विभाग की कमियों को छिपाने के काम आए, इसका मतलब है वह उस विभाग का चारा है। उसके काम का पेड़ था इसलिए विभाग ने उसको बहुत प्यार किया और फिर-थोड़ा बाज़ार के भी काम का था। पर बाज़ार का अपना स्वभाव होता है। बहुत लग गया सफ़ेदा तो दाम गिर गए।

तो उसका इतना मामूली दाम मिलने लगा कि धीरे-धीरे लोग हतोत्साहित होने लगे। सोयाबीन का भी एक दौर आएगा और भी कुछ चीज़ों का।

गन्ने का भी आता है। कभी-कभी पश्चिमी उत्तर प्रदेश में लोग उसे भट्टी में जला देते हैं। भैंसा गाड़ी में लादकर उसे चीनी मिल ले जाने तक का ख़र्चा नहीं निकलता। लेकिन सुबबूल और विलायती बबूल अभी भी टिके हैं। ये दोनों खरपतवार की तरह फैल गए हैं। इतना बड़ा नुक़सान हुआ है। इसकी तरफ़ किसी आंदोलन का भी ध्यान नहीं है। संस्थाओं का भी नहीं है।

इन तीनों पेड़ों के बारे में हमेशा यही कहा गया था कि ये बड़ी तेजी से बढ़ते हैं। लेकिन समाज केवल 'तेज़ बढ़ने' के तर्क से नहीं चलता। अच्छे कामों, अच्छे उपयोगी पेड़ों को, संतति को भी धीरज और प्यार के साथ पाल-पोस कर बड़ा करना पड़ता है।

ऐसी चीजों से निपटने के लिए ऐसे विचारों से यानी बीजों से भी बचना पड़ेगा। बीज रूपी विचार से भी बचने की तैयारी होनी चाहिए। बाहर से कोई पेड़ आया है। बाहर से कोई विचार आया है, वह हमको तार ले जाएगा। हमारे पर्यावरण को ठीक कर देगा। वह हमारी सब समस्याएं हल कर देगा, ख़ूब तेज़ी से बढ़ता है। इसलिए लकड़ी की कमी पूरी कर देगा—ऐसे विचार रोकने की आदत होनी चाहिए। एक बार ठिठक जाएं हम उसे सुनकर कि इसकी कोई और अच्छी बात बताओ। अभी तो यह अपनाने लायक़ नहीं है। लेकिन यह ठिठकने का स्वभाव इस बीच में नष्ट हुआ। इसका कारण यह है समाज के मुखर हिस्से की पढ़ाई भी उसी विचार से हुई है। विशेषज्ञता पाने के लिए भी वह वहीं जाता है। सामाजिक विज्ञान ही नहीं, वन विज्ञान हो, भाषा विज्ञान हो, साहित्य हो कोई भी चीज हो, उसकी विशेषज्ञता हासिल करने का मतलब आप अपने गुरुत्वाकर्षण वाले केंद्र पर गए कि नहीं। यह केंद्र यूरोप और अमेरिका है। बस्तर के जंगल पर भी विशेषज्ञता प्राप्त करनी है तो बस्तर जाने के बदले लंदन जाना ज़्यादा योग्य माना जाता है! इसलिए विचार

रूपी बीज को जब तक हम ठीक नहीं कर पाएंगें, ऐसे पेड़ समय-समय पर आएंगे, ऐसे हल भी समय-समय पर आएंगे जो वास्तव में हल न करके हमारी समस्याएं बढ़ाएंगे। उस बढ़ी हुई समस्या को समझने का विवेक भी ख़त्म हो गया है। नहीं तो सुबबूल लगने के दो साल बाद पता चलता कि यह काम ग़लत है। उसने भी दस साल लिए। विलायती बबूल को तो अभी समझने का भी दौर नहीं है। समाज का एक हिस्सा उससे त्राही-त्राही कर रहा है। लेकिन जिसे नीति निर्धारक कहते हैं उसका अभी भी ध्यान नहीं। लेकिन ग्वालों को जिनकी गाय उसे खा नहीं पाती हैं, या उसको खाकर ज़हरीली हो जाती हैं, उनको रोज़ ध्यान में आ रहा है। कच्छ में रोज इसे खाते-खाते गाय मर रही हैं। समस्या सब जगह है लेकिन उसको आज स्वीकार करने लायक़ तक विवेक नहीं बचा। जो अच्छे वन विज्ञानी हैं उनके ध्यान में नहीं आ रहा है कि इसके पीछे क्या विज्ञान है; यह तो हमारे काम का नहीं है। हम जिस चीज़ को अपनी थाली में खा न सकें, उसको लगातार लगाते चले जाएं। वही बात आपको सोयाबीन में मिलेगी। उसकी दाल नहीं बनती। फिर भी हम उसे बोए जा रहे हैं—पश्चिम के बाज़ार के लिए।

हमारे समाज में बराबर यह रेखांकित किया जा रहा है कि भारतीयों में राष्ट्रीय चरित्र व नागरिक बोध का गहरा अभाव है ऐसे में एक स्वस्थ पर्यावरणीय संरचना व चेतना हमारे समाज में कारगर तरह से व्याप्त हो सके उसके लिए आप किस तरह के नागरिक उपायों को सुझाना चाहेंगे?

समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा बिल्कुल किनारे कर दिया गया है। समाज के बड़े हिस्से को हाशिए पर कर दिया जाए और बहुत थोड़ा सा हिस्सा पूरी जगह घेर ले और वही मुख्यधारा कहलाने लगे, तब ये दिक़्क़तें शुरू होती हैं। इसलिए मुझे लगता है कि नागरिक बोध से भी काम नहीं

चलेगा। मुख्यधारा के इन नागरिकों में बोध वाली गुंजाइश मुझे बहुत कम दिखती है। मुझे लगता है कि ऐसे में कर्तव्य बोध की ज़्यादा ज़रूरत है। जो जहां है उसका क्या कर्तव्य है, जो जहां है उसका क्या कर्तव्य होना चाहिए; वह सोचना शुरू करे। समाज का अधिकांश हिस्सा तो अभी भी अपने जीवन को उस ढंग से चलाना चाहता है। लेकिन उसके हाथ में अब किसी तरह की पहल, शक्ति, साधन नहीं बचे हैं। वह सब तो उससे छीन लिया गया है। शायद कहीं बीच में एक बातचीत छूट गयी थी। गांव का सबसे अधिक राजस्व वहीं का वहीं छोड़ा जाता था। मैसूर का एक क़िस्सा है। तालाब की किताब में है। जो लोग तालाब की रखवाली करते थे उनसे कम कर लिया जाता था। तालाब बनाने वालों को भी कर में विशेष छूट दी जाती थी। ये सब जब नष्ट कर दिया जाए तो तालाब सरकार के हवाले हो ही जाएगा। हमारा तो सारा पैसा सरकार ने ले लिया, अब हम क्या कर सकते हैं! ऐसे में पर्यावरण के शिविर लगाएं या चेतना जगाएं तो भी क्या हो जाएगा। उनके हाथ में साधन नहीं हों, और उनकी प्रतिष्ठा भी नहीं हो। इसलिए शायद पहले प्रतिष्ठा वापस करना ज़्यादा सरल होगा। उसमें कोई ताक़त और पैसा नहीं लगने वाला। केवल मन लगाने की बात है कि ये लोग हैं जो तालाब बनाते थे, अपना पर्यावरण संवारते थे, सजाते थे, इनके कारण बाक़ी चीज़ें टिकती थीं। इसलिए उनको पहले हम इज़्ज़त वापस करें। इज़्ज़त आने के बाद वे साधन भी ला सकते हैं। कुछ इलाक़ों मे पहले साधन आ सकते हैं। वैसे इलाक़े कम होंगे। जैसे गुजरात का उदाहरण यहां दे सकते हैं। पाटीदार समाज ने 150 करोड़ रुपए पहले साधन के रूप में डाल दिया पर वह भी इसलिए हुआ कि उनकी प्रतिष्ठा है, वहां पर। लेकिन हम ऐसी उम्मीद बस्तर से नहीं कर सकते।

अलवर में तरुण भारत संघ ने पहले साधन जुटाए, फिर वहां प्रतिष्ठा भी वापस आयी। कहीं यह होगा, कहीं वह। लेकिन इतनी मेरी श्रद्धा

है कि जैसे बुरी बातें तेज़ी से महामारी की तरह फैलती हैं, अच्छी बातें भी समाज में उसी तेज़ी से फैल सकती हैं। बिल्कुल एक आग की तरह फैलती हैं। तालाब वाला काम एक छोटे से हिस्से में शुरू किया था। आज उसको धड़ा-धड़ दूसरे लोग अपनाते जा रहे हैं। जिस परिस्थिति को बिगड़ने में दो सौ साल लगे, उसे सुधारने में इतना धीरज तो रखना पड़ेगा। एक-दो दिन में नहीं होगा। हम अपनी मेहनत करें, अपना कर्तव्य करें समय जो लगेगा वह तो लगेगा।

और अब आपकी पुस्तकों से जुड़ी जिज्ञासाएं:

1. *'आज भी खरे है तालाब' में ज़िक्र है 'अनपूछी ग्यारस' का, तालाब बनाने में इस दिवस का क्या विशेष औचित्य है—इस बात को थोड़ा विस्तार से समझाएं?*

2. *तालाब बनाने के लिए मुहूर्त, तिथियां, लग्न, ग्रह, नक्षत्र आदि का मिलना सिर्फ़ मान्यताओं के आधार पर होता है या इसका कोई ठोस कारण है? और अगर है तो क्या है वह?*

3. *जलसूंघा लोगों द्वारा भूजल की तरंगों के संकेत आम या जामुन की लकड़ी की सहायता से किस तरह से पकड़े जाते हैं? क्या हम आज तक उसका वैज्ञानिक आधार खोज पाए हैं या नहीं?*

4. *राजस्थान में नवरात्रि के दिनों में तालाब का जल-स्तर देखकर पुजारी जी (भोपा जी) आने वाले समय की भविष्यवाणी किस आधार पर करते थे तथा वह किस बात का संकेत होती थी और आज हमें उसे किस रूप में समझना और ग्रहण करना चाहिए?*

5. *अलग-अलग प्रांतों और प्रदेशों में बनने वाले तालाबों का वास्तु-शास्त्र वहां की प्राकृतिक और भौगोलिक संरचना पर ही आधारित होता था या समाज में उनका उपयोग व उपभोग भी उनके निर्माण को निर्धारित करता था?*
6. *इन तालाबों से जुड़ी कहानियां, जातक कथाएं किस तरह से संस्कृति और पर्यावरण की रक्षा में अपना योगदान देती हैं?*

मोटे तौर पर समाज अपने काम को याद रखने के लिए कुछ सरल तरीक़े ढूंढ़ता है। उसमें यह मुहूर्त वग़ैरह उसी तरह की चीज़ें है। नहीं तो आपको एक आदेश निकालना पड़ेगा कि तालाब बनाने का मौसम आ गया है। सारे लोगों को कॉपी जाएगी तो कोई एकाथ लाख फ़ोटोकॉपी करवानी होंगी। सरकुलर या प्रिंट करना हो तो कितने पतों पर भेजोगे, कौन भेजेगा? आधी डाक में गड़बड़ हो जाएंगी। पता चला कि पाने वाले छुट्टी पर हैं। इस तरह तो वर्षों तक तालाब ठीक नहीं होंगे, नए नहीं खुदेंगे। तो समाज जब बड़े पैमाने पर कोई चीज़ करना चाहता है तो उसको सरल बनाता है। प्रकृति भी ऐसा ही करती है। तो मुझे यह लगता है कि ग्यारस वग़ैरह इसलिए तय किए गए, दिन रखे गए। शुभ दिन का मतलब अनपूछी सबसे व्यावहारिक दिन भी है। दीपावली के 11 दिन बाद बड़ी दीपावली आती है, तुलसी विवाह वाला वह दिन है। इसका शास्त्रीय नाम है 'देवोत्थान एकादशी।' देवउठनी भी उसी तरह बना है।

यह व्यावहारिक दिन भी है। पानी का काम करने के लिए। तालाब का काम आपको करना हो तो मिट्टी ऐसी चाहिए कि उसमें कुदाल, फावड़ा चल सकता हो। कीचड़ में नहीं चल सकता। बिल्कुल सूखे में भी नहीं चल सकता। तो यह बीच का दौर है। वर्षा का पूरा मौसम निकल गया—सितंबर-अक्तूबर। आकाश नीला हो गया। बादल छंट गए। थोड़ी सी धूप भी पड़ गयी। मौसम खुल जाने से कीचड़ भी सूख गया।

अब इतनी नमी है कि आप अपने फावड़े कुदाल का प्रयोग करके मिट्टी का काम कर सकते हैं। इसलिए इस दिन को रखा गया। अब जब एक शुभ दिन है, अच्छा मुहूर्त है तो उसका व्यवहार में यह उपयोग हुआ कि भई, आज के दिन के लिए क्या पूछना। यह तो बहुत ही अच्छा दिन है काम शुरू करने के लिए। तो फिर धीरे-धीरे लोगों के बीच उसका नाम प्रचलित हुआ अनपूछी ग्यारस। आज पूछने की भी ज़रूरत नहीं, ऐसी मान्यता बन गयी। बाक़ी के लिए तो पंडित जी के पास एकाध बार पूछना पड़ेगा। काग़ज़ पत्तर दिखाने पड़ेंगे कि हम यह काम करना चाहते हैं, महाराज बताओ कौन सा दिन ठीक है। पर इसको इस व्यवस्था से भी मुक्त करके इतना व्यापक कर दिया तो मुझे लगता है कि वह एक व्यावहारिक दिन था। तो उसको मुहुर्त माना कि आप बस काम शुरू कर दीजिए।

एक बात और कि किसान समाज के फ़ुर्सत का दिन भी वही है। एक फ़सल कट चुकी। किसान के पास थोड़ी समृद्धि आ गई है। उसके पास अब थोड़ा वक्त भी है। अगली फ़सल बोने से पहले समय भी है और साधन भी हैं। समय है इसलिए बिना पूछे अच्छा काम शुरू करो। समाज को अच्छे कामों में लगाना है तो कोई-न-कोई प्रेरणा देनी पड़ती है।

इसलिए एक दिन इस कोने से उस कोने तक तय हो गया। पूरे देश के पंचांग अनपूछी ग्यारस को इसी रूप में रखते हैं और अपने लोगों से यह कहते हैं कि आज के दिन आपको कोई भी अच्छा काम करना हो, बेझिझक शुरू कर दीजिए। एक तरह का आदेश भी है कि यह अच्छा काम है। शुरू करो और जल्दी ख़त्म करो। निश्चित भी कर दिया कि भगवान साथ हैं।

यह सब भी इसी तरह जुड़े हैं कि समाज के उस तरह के व्यवहार में जो सबसे अनुकूल दिवस हो उनमें ये करना है। फिर थोड़ा बहुत गणित

है। हरेक समाज थोड़े बहुत गणित पर चलता है। शुभ-अशुभ अच्छे काम का भी विचार करता है। एकाध बार कभी ग़लत समय में फावड़ा चलाया वह तालाब बाद में कभी टूट गया होगा तो लोगों को लगा होगा कि मुहूर्त नहीं देखा। फिर कुछ इस तरह के क्षण निकल गये। यह एक चेतना का भी स्तर हो सकता है। इससे ज़्यादा तो मैं नहीं जानता। किताब में हम लोगों ने इसलिए लिखा कि लगभग हर जगह दक्षिण में, मध्य प्रदेश में, राजस्थान में एक-सी तिथियां मिलती हैं, इस काम को करने के लिए। कुल बाद में सिमट के मुहूर्त में बदल जाती होंगी। पहले तो यही जानकारी रही होगी कि अमुक दिन करने से लगता है थोड़ा नुक़सान हुआ। अमुक दिन करने से नहीं हुआ। फिर एक जगह आकर वह एक सामूहिक चेतना में बदल जाती है। इस तरह से ये दिन तय हुए होंगे। जब सबका अनुभव एक जगह निचुड़ कर आया होगा कि भाई यह अच्छा दिन है। तो यह व्यवहार भी है, विज्ञान भी है लगभग एक जैसा है सब जगह।

पानी के ये जो सिद्ध पुरुष हैं उनको बोली में जलसूंघा भी कहा गया है। पानी सूंघना जानते हैं। जल की अपनी एक तरंग होती है और उसको आज आधुनिक विज्ञान यंत्रों से खोजता है। कुछ के हाथ में शरीर में ऐसी संवेदनाओं का संचार होता होगा कि वे जल तरंग का कंपन ग्रहण कर लेते हैं। ये लोग हाथ में जामुन की, आम की लकड़ी लेकर उसे ज़मीन के समानांतर ले जाते हैं। राजस्थान में बहुत सारी संस्थाएं या घर नए चलन के अनुसार हैंडपंप या ट्यूबवैल वग़ैरह की जगह आधुनिक यंत्रों से पक्की करवाते हैं। बाद में जलसूंघे को बुलाकर उसकी पुष्टि भी करते हैं कि भाई यही जगह ठीक है कि नहीं। यह बहस सन् 50 में अमेरिका में भी खूब चली। तब तक वहां भी ऐसे यंत्र वग़ैरह नहीं आए थे। इस पर एक किताब भी थी। पानी को लकड़ी से कैसे ढूंढ़ते हैं यह विज्ञान है कि नहीं, वहां बड़ी बहस चली। कुएं वहां भी इसी पद्धति से खोजे गए थे। इसकी विशेष जाति, गुरु शिष्य परंपरा भी चलती है। पिता से पुत्र को भी यह

ज्ञान मिलता रहा है। यह भी मान्यता रही है कि इसे बेचना नहीं है। इसको पैसे के काम में मत लगा देना। अगर आप को कुएं की ज़रूरत है तो मैं दो सौ से कम में नहीं बताता ऐसा लालच मत करना। श्रद्धा से जो मिल जाए बस उतना लेना। ये जो टोटके किए कि इसे बेचोगे तो यह लुप्त हो जाएगा, ये इसलिए किए गए कि ऐसे ज्ञान को रखने वाला अपने ज्ञान को बेचे नहीं। इसे समाज के काम में लगाए और यह भी देखा कि वह भूखा भी नहीं मरे। जिसकी सामर्थ्य 51 रुपए देने की है वह 51 रुपए देगा। कोई 101 देगा, कोई 251 दे देगा। तो उसको कुछ-न-कुछ अपनी जीविका चलाने के लिए भी मिले। लेकिन वह इसको बेचने की दुकान न लगाए।

राजस्थान में और ख़ासकर मरुभूमि में एक शब्द है जमानो। ज़माने से बना है। लेकिन वह दुनिया के अर्थ में नहीं है। आने वाली परिस्थिति अच्छी होगी। फ़सल के दिन अच्छे होंगे। इस शब्द से जमानो शब्द निकलता है। और यह बहुत ही वैज्ञानिक पद्धति थी कि पानी पूरा बरस गया। जिस देश में प्रकृति की तरफ़ से पानी की एक निश्चित ऋतु या समय तय है। अब उसके बाद बारिश नहीं होने वाली। तो यह एक कितना बड़ा वैज्ञानिक संगठन था समाज का कि हर गांव में सब लोग सितंबर–अक्टूबर में नवरात्रों के आसपास तालाब के पास आएंगे। वहां एक विशेष व्यक्ति तालाब की पाल पर खड़ा होकर उस तालाब में कितना पानी भरा है, यह देख कर अपने सब लोगों को बता सके कि आने वाला दौर अच्छा होगा या आने वाला ज़माना ख़राब होगा। भोपा जी यह भविष्यवाणी करते थे। वे कोई टोटके के रूप में नहीं करते थे। जल स्तर देख कर ही करते थे। तालाब आधा भरा है कि पूरा भरा है। अपरा चल दी, चादर चल दी तो ख़ूब पानी है। ख़ूब पानी का मतलब है फ़सल भी अच्छी होगी। अब कोई बड़ी दुर्घटना हो जाए वह अलग बात है। लेकिन कृषि समाज का मुख्य आधार है

पानी। उसका इंतज़ाम हो गया तो उसकी फ़सल आ गई। अच्छी हो जाएगी। इसलिए भोपा जी इसकी घोषणा करते थे कि जमाना कैसा होगा। आज भी ऐसे लोग बचे हैं। अलवर वग़ैरह में वहां ज़माना देखने वाली परंपरा लोग नहीं भूले थे। भोपा जैसा संगठन नहीं है। लेकिन उनकी स्मृति में इस काम का महत्व है। अरवरी नदी किनारे के जितने गांव हैं, उन्होंने आपस में बैठक करके सितंबर में यह तय किया कि इस वर्ष पानी बहुत कम गिरा है। 40 प्रतिशत पानी गिरा। इसलिए ऐसी फ़सल नहीं लगाएं जो पानी ज़्यादा मांगती है। नहीं तो यह पानी ख़त्म हो जाएगा। कम पानी गिरा है तो व्यवहार में भी ऐसा रखो कि पानी का ख़र्च कम हो। इसलिए वे लोग उनके गांव अकाल को सह गए। उन्होंने कहीं भी गन्ना, गेहूं, इस तरह की चीज़ें नहीं बोईं। अगर ऐसी फ़सल ले लेते, रबी में जिसकी पानी की मांग ज़्यादा होती है तो जो कम पानी गिरा है वह उनको धोखा दे जाता। गुजरात महाराष्ट्र आदि में सब जगह यही हुआ कि पानी कम गिरा। कोई भोपा न पुराना है, न नया भोपा है। नये भोपे कौन हो सकते हैं? यह मज़ाक़ में नहीं कह रहा। नए भोपे कलेक्टर होते हैं। उस ज़िले का प्रमुख अधिकारी जो यह मुनादी करे। रेडियो, टी.वी. से संदेश दे कि भाई इस साल पानी कम गिरा है। किफ़ायत रखनी पड़ेगी। कुएं में पानी का स्तर देख कर ही सिंचाई करो। ज़्यादा मत करो। नहीं तो हम दोनों तरफ़ से चले जाएंगे। तो बाक़ी जगह यह हुआ कि लोगों ने विवेक नहीं दिखाया इस मामले में। ऐसी फ़सलें लगाईं जो पानी ज़्यादा लेती हैं। पानी भी गया और फसल भी गई। अकाल पड़ा इसलिए। उनका भूजल भी चुक गया। अलवर में उसको बचा कर रख लिया। साधारण फ़सल लगायी। मोटा अनाज। कुछ फ़सल भी हाथ आई। पीने का पानी भी रहा और पशुओं के लिए भी रहा। इसलिए वहां से आबादी का पलायन नहीं हुआ। तो यह भोपा वाली पद्धति ही थी। कोई-न-कोई एक प्रतिष्ठित

व्यक्ति यह जानकारी दे कि आने वाले जमाने में तुम्हें क्या व्यवहार करना है। यह ऐसी व्यवस्था थी।

आज लोगों को लगता है कि हमारा जीवन तो विज्ञान पर, तकनीक पर है। पानी कम है तो और गहरे उतर जाएंगे। सब जगह गुजरात, महाराष्ट्र में यही हुआ। पानी कम गिरा है तो क्या हुआ हमारा तो ट्यूबवैल है। तालाब तो है नहीं। तालाब से सिंचित तो कोई इलाक़ा है नहीं। इसलिए बटन दबाएंगे, पानी निकलेगा। इस तरह दो-तीन दिन तो पानी निकला। उसके बाद नहीं निकला। इसलिए अब अन्य रूपों में भी भोपाओं को देखना चाहिए। उसमें कलेक्टर हो सकते हैं। संस्थाएं हो सकती हैं। अलवर में यह सब काम तरुण भारत संघ से हुआ। ये आधुनिक भोपा बन गए। आज के युग में उन्होंने तो काम पूरा किया।

दोनों बाते हैं। कितना पानी गिर रहा है उसको कम क्षेत्र से जल्दी समेट सकते हैं। अगर वर्षा बहुत अच्छी होती है तो तालाब का आगोर जिसको अब हम जलागम वग़ैरह के नाम से जानते हैं, वह छोटा भी हो सकता है। गोवा कोंकण वग़ैरह के जो इलाक़े हैं, जहां पानी ख़ूब गिरता है, असम के इलाके हैं जहां तेज़ पानी गिरता है, वहां छोटा आगोर काम देता है। वहां 100,200,300 इंचों से ऊपर गिरता है पर मरुभूमि में 8 इंच पानी गिरेगा इसलिए वहां आगोर बड़ा बनता है कि चारों तरफ़ से एक-एक बूंद आ जाए तब वह भर सकेगा। एकदम से नहीं भरने वाला। एक यह कारण और दूसरा यह कि उपयोग भी इसी आधार पर होंगे। जितनी अच्छी आपके पास वर्षा है, जैसी ज़मीन है उसको रोपने वाली, उसकी क्षमता उसका स्वभाव सब देखा जाता है। उसी आधार पर फ़सलें तय करनी होंगी। आप देखेंगे कि मरुभूमि में इतने सारे तालाब हैं, लेकिन वे सिंचाई के काम आते ही नहीं हैं। सारे तालाब भूजल, पाताल पानी के संवर्धन के लिए, निस्तारी के लिए, नहाने धोने के लिए, पशुओं के लिए

बनते रहते हैं। उनमें फ़र्क़ होगा कि यह केवल पानी पीने का है तो उसमें नहाना मना है। इस तरह का आरक्षण अलग-अलग करके रखा गया था। उपयोग के आधार पर। छतीसगढ़ में भी निस्तारी के तालाब अलग मिलेंगे। नहाने के अलग मिलेंगे। स्त्रियों के लिए अलग, पुरूषों के लिए अलग। राजस्थान में तालाबों में स्त्रियों के नहाने के लिए विशेष इंतज़ाम रखा जाता था। उनको पानी में तैरने का पूरा आनंद भी मिले और वे बाक़ी हिस्से से कटी भी रहें। जालीदार परकोटा, सीढ़ियां, उसमें कूद कर नहाने तैरने का पूरा प्रबंध रखा जाता था। वे बाहर देख सकें। बाहर के लोग उनको न देख सकें। इसका बहुत अच्छा इंतज़ाम बीकानेर के कोलायत नामक तालाब में मिलेगा। छतीसगढ़ धान का इलाक़ा है। धान को पानी चाहिए। वर्षा के अलावा भी सिंचाई चाहिए तो बहुत सारे ऐसे तालाब हैं। उनको सिंचाई के लिए बनाया गया। फिर मछली पालन का चलन है। मरुभूमि में नहीं है वह। मछली के तालाबों में अपरा वग़ैरह सब अलग ढंग से बनेंगी। उसमें नीचे एक नाली बनाते हैं जिससे एक बार वर्ष में पूरा तालाब ख़ाली कर दिया जाए। मछली की बढ़त के लिए यह ज़रूरी है कि एक बार तालाब का तल सूख जाए, उस पर धूप पड़ जाएं। हानिकारक कीटाणु वग़ैरह नष्ट हो जाएं। फिर से उसमें पानी भरा जाए। तब मछली बहुत अच्छी पनपती है। इसे एक फ़सल की तरह देखते हैं। उनके रीति-रिवाज़ हैं। आख़री फ़सल को पकड़ने के भी अलग नियम है। उसमें पूरा गांव इकट्ठा होता है। मछली के ढेर लगते हैं। सब के नाम हर परिवार के। फिर तालाब ख़ाली कर दिया जाता है। उसको धूप दिखाई जाती है। फिर वो दोबारा भरता है। जहां बहुत तेज़ पानी गिरता है वहां तालाब अलग-अलग ढंग से भरते हैं। उनकी अपरा अलग ढंग से बनाएंगे, पानी की मात्रा को देख कर, मिट्टी की सहनशक्ति देख कर संरचनाएं बदलती हैं।

तालाब और पर्यावरण की जितनी भी कहानियां हैं वे तो एक तरह से

समाज को बार-बार उससे बांधे रखने के लिए हैं। उसको प्रेरणा देने के लिए हैं। हर बार यह कहो कि भाई तालाब बनाओ। तो दो लोग सुनेंगे दो लोग नहीं सुनेंगे। अनसुनी कर देंगे। लेकिन तालाब बनाने के अच्छे क़िस्से अगर समाज में घूमते रहें, चल रहें हों तो बचपन में कोई काका से सुनेगा, कोई काकी से सुनेगा, कोई दादी से सुनेगा। आदेश न होकर वह एक सहज प्रक्रिया हो जाती है। नहीं तो किसी एक उम्र में आदेश मिलेगा हमको, तब हम जाएंगे अच्छे काम करने। वातावरण बनाने के लिए यह एक बहुत बड़ा काम होता था। अपने यहां तालाब की कुछ ऐसी कहानियां प्रचारित हुई हैं जो किसी को भी रुला सकती हैं। और उसने अगर अभी तालाब बनाने के बारे में न सोचा हो तो वह तालाब बना बैठेगा।

केवल पर्यावरण की नई संस्थाएं खोल देने से पर्यावरण नहीं सुधरता। सिर्फ़ थाने खोलने से अपराध कम नहीं हो जाते। ये कथाएं समाज को चलाए रखती हैं, अच्छे काम सरल बनाती हैं, बुरे काम कठिन। यह पर्यावरण शिक्षा भी है, पर्यावरण-चेतना भी है, पर्यावरण का पाठ्यक्रम भी है। लिखत-पढ़त वाली सब चीज़ें औपचारिक होती हैं। सब कक्षा में, स्कूल में बैठकर नहीं होता। इतने बड़े समाज का संचालन करने, उसे सिखाने के लिए कुछ और ही करना पड़ता है। कुछ तो रात को मां की गोदी में सोते-सोते समझ में आता है तो कुछ काका, दादा के कंधे पर बैठ चलते-चलते समझ में आ जाता है। यह उसी ढंग का काम है जीवन शिक्षा का।

मन्ना: वे गीत फ़रोश भी थे

थोड़ा बहुत लिखना-पढ़ना मन्ना से ही सीखा पर उन पर कभी कुछ लिखा नहीं। मन्ना को गए आज 15 बरस हो रहे हैं, लेकिन उनके बारे में कभी 15 शब्द भी नहीं लिखे।

कारण कई थे। पहला तो वे ख़ुद थे। कुछ के लिए वे ज़रूर 'गीत फ़रोश' रहे होंगे, पर हमारे लिए तो वे बस पिता थे। हर पिता पर उसके बेटे-बेटी कुछ लिखें—यह उन्हें पसंद नहीं था। कुल मिला कर हम सबके मन में भी यह बात ठीक उतर गई थी। मन्ना ने एकाध बार बहुत ही मज़े-मज़े में हमें बताया था कि कोई भी पिता अमर नहीं होता। पिता के मरते ही उसके बेटे-बेटी उनकी याद में कोई स्मारिका छाप बैठें, ख़ुद लेख लिखें, दूसरों से लिखाते फिरें, उनकी स्तुति, योगदान को स्थाई रूप देने के लिए उनके नाम से कोई संस्था, संगठन खड़ा कर दें—यह सब बिल्कुल ज़रूरी नहीं होता। उनकी मृत्यु के बाद हमने इस बात को पूरी तरह निभाया, न ख़ुद लिखा, न लिखवाया। दूसरा कारण उनकी एक कविता थी—*'क़लम अपनी साध, और मन की बात बिल्कुल ठीक कह एकाध।'* क़लम साधना, मन की एकाध बात कहना कठिन काम है। फिर कवि नामक इस कविता की आगे की पंक्तियां और भी कड़ी शर्त रखती हैं: यह कि तेरी भर न हो, तो कह, और बहते बने सादे ढंग से तो बह।

तो मन की बात ठीक एकाध कभी सूझी नहीं। सूझी भी तो मन्ना की शर्त 'तेरी भर न हो' लागू करने के बाद कभी कुछ ऐसा बचता नहीं था—लिखने लायक़।

हम सब उन्हें मन्ना कहते थे। भाषा को बिगाड़ने का कुछ पाप जिन संबोधनों से लगता हो, वैसे संबोधन पिता के लिए तब प्रचलित नहीं हुए थे। लेकिन तब के नाम-बाबूजी, पिताजी, बाबा आदि से भी हम और वे बच गए थे। वे ख़ूब बड़े भरे-पूरे परिवार में मंझले भाई थे। पिताजी के बड़े भाई उन्हें प्यार से सिर्फ़ 'मंझले' कहते और फिर दादा-दादी से लेकर सभी छोटे बहन-भाई, यानी हमारे चाचा, बुआ आदि भी उन्हें आदर से 'मंझले भैया' ही कहने लगे थे। मुझसे बड़े दो भाई सन् 1942 में जब पिताजी को पुकारने लायक़ उम्र में आ रहे थे कि वे जेल चले गए। जेल में लिखी उनकी कविता *'घर की याद'* में इस भरे-पूरे परिवार का, उसके स्नेह का आंखें गीली करने लायक़ वर्णन है। 2-3 बरस बाद जब वे जेल से छूट कर लौटने वाले थे, तब ये दोनों बेटे अपने पिता को किस नाम से पुकारेंगे—इस बारे में नरसिंहपुर (मध्यप्रदेश) में घर में बुआओं, चाचाओं में कुछ बहस चली थी। दोनों को कुछ सलाह, निर्देश भी दिए गए थे। पर जब वे सामने आकर अचानक खड़े हुए होंगे तो दोनों बेटों ने रटाए सिखाए गए संबोधन कूद के पार कर लिए थे और सहज ही 'मंझले भैया' कह कर उनकी तरफ़ दौड़ पड़े थे। बेटों के लिए भी वे 'मंझले भैया' बने रहे।

फिर जन्म हुआ मुझसे बड़ी बहन नंदिता का। जीजी से 'मंझले भैया' कहते बना नहीं। उन्होंने उसे अपनी सुविधा के लिए 'मन्ने भैया' किया। फिर मन्ने भैया और थोड़ा घिस कर चमकते-चमकते 'मन्ने' और अंत में 'मन्ना' हो गया। जब मेरा जन्म 1948 में वर्धा में हुआ तब तक पिताजी जगत मन्ना बन चुके थे—सिर्फ़ हमारे ही नहीं, आस-पड़ोस और बाहर के छोटे से लेकिन आत्मीय जगत के।

बचपन की यादें कोई ख़ास नहीं। शायद घटनाएं भी ख़ास नहीं रही होंगी—उस दौर में एक साधारण पिता के जो संबंध साधारण तौर पर अपने बच्चों से रहते हैं, ठीक वैसे ही संबंध हमारे परिवार में रहे होंगे।

मेरे जन्म के बाद हम सब वर्धा से हैदराबाद आ गए थे। वे दिन हमारे लिए यह सब जानने-समझने के थे नहीं कि मन्ना कहां क्या काम करते हैं। पर एक बार वे घर से कुछ ज़्यादा दिनों के लिए बाहर कहीं चले गए थे। तब शायद मैं पहली कक्षा में पढ़ता था। वे तब मद्रास गए थे। लौटे तो उनके साथ एक सुंदर चमकीला चाक़ू आया था। मन्ना को सब्ज़ी काटने का ख़ूब शौक़ था सब्ज़ी ख़रीदने का भी। यह शौक़ कभी-कभी अम्मा की परेशानी में बदल जाता। जितनी सब्ज़ी चाहिए, कई बार उससे बहुत ज़्यादा ढेर उठा लाते क्योंकि बेचने वाली का बच्चा छोटा था, वह सब कुछ बेच जल्दी घर लौट सकती थी। बचपन में हमने उन्हें न तो कविता लिखते देखा न पढ़ते-सुनाते। मद्रास के उस स्टील के चाक़ू से ख़ूब मज़ा लेकर सब्ज़ी काटते थे—इसकी हमें याद बराबर है।

यह दौर था जब वे मद्रास में ए.वी.एम. फ़िल्म कंपनी के लिए कुछ गीत और संवाद लिखने गए थे। सब्ज़ी ख़रीदने में बहुत ही प्रेम से भावताव करने वाले मन्ना ए.वी.एम. के मालिक चेट्टियार साहब से अपने गीत बेचते समय कोई भावताव नहीं कर पाए थे। गीत बेचने की इस उतावली में उनका लक्ष्य पैसा कमाना नहीं बल्कि कुछ पैसा जुटा लेना था। बड़े परिवार में 2-3 बुआओं का विवाह करना था। रजतपट के उस प्रसंग में उन पर कुछ कीचड़ भी उछला होगा। उसी दौर में उन्होंने गीतफ़रोश कविता लिखी थी। हमने तब घर में रजतपट के चमकीले क़िस्से कभी सुने नहीं। क़िस्से सुने ए.वी.एम. के होटल के जहां रोज़ इतनी सब्ज़ी कटती थी कि अच्छे से अच्छे चाक़ू कुछ ही दिनों में घिस जाते थे, फिर फेंक दिए जाते थे। रजतपट की सारी चमक हमारे घर में इसी चाक़ू में समा कर आई थी मद्रास से।

चेट्टियार साहब से किसी विवाद के बाद वे गीत बेचने की दुकान बढ़ा कर घर लौट आए। गीत फ़रोश में क़िस्म-क़िस्म के गीतों में एक गीत 'दुकान से घर जाने' का भी है। शायद जब वे तरह-तरह के गीत बेच रहे थे, तब उनके मन में घर आने का गीत 'गाहक' की मर्ज़ी से बंधा नहीं था।

ए.वी.एम. की वे फ़िल्में, जिनमें मन्ना ने गीत और संवाद लिखे थे, डिब्बे में बंद नहीं हुईं। वे हैदराबाद के सिनेमाघरों में भी आई होंगी, पर मन्ना ने उन्हें अपनी उपलब्धि नहीं माना। हम लोगों को, अम्मा को सजधज कर उन्हें दिखा लाने का कभी प्रस्ताव नहीं रखा। शायद उनके लिए ये गीत 'मरण' के थे, फ़िल्मी दुनिया में रमने के नहीं, मरने के गीत थे।

साहित्य में रुचि रखने वालों के लिए मन्ना का वह दौर प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका कल्पना का दौर था। पर हम बच्चों की कल्पना कुछ और ही थी। घर में कभी शराब नहीं आई पर हैदराबाद में हम शराब के ही घर में, मोहल्ले में रहते थे। मोहल्ले का नाम था टकेरवाड़ी। चारों तरफ़ अवैध शराब बनती थी। उसे चुआने की बड़ी-बड़ी नादें यहां-वहां रखी रहती थीं। यों हमारे मकान मालिक जिन्हें हम बच्चे शीतल भैया मानते थे, खुद इस धंधे से एकदम अलग थे। पर चारों तरफ़ इसी धंधे में लगे लोग छापा पड़ने के डर से कभी-कभी कुछ समान, नाद आदि हमारे घर के पिछवाड़े में पटक जाते। 4-5 बरस के हम भाई-बहनों की क्या ऊंचाई रही होगी तब। हम इन नादों में छिपकर तब की ताज़ा कहानी अली बाबा और चालीस चोर का नाटक खेल डालते थे।

कभी-कभी मन्ना हमें बदरी चाचा (श्री बदरीविशाल पित्ती) के घर ले जाते। घर क्या विशाल महल था। शतरंज के दो बित्ते के बोर्ड पर सफ़ेद-काले रंग का जो सुंदर मेल हमने कभी अपने घर में देखा, वह

यहां बदरी चाचा के पूरे घर में, आंगन में, कमरों के फ़र्श में सभी जगह पूरी भव्यता से फैला मिलता। बदरी चाचा के घर ऐसे मौक़ों पर बड़े-बड़े लोग जुटते थे, पर हम उन सबको उस रूप में पहचानते नहीं थे। बदरी चाचा सचमुच विशाल थे हम सबके लिए। कभी-कभी वे हम सबको हैदराबाद से थोड़ी दूर बसे शिवरामपल्ली गांव ले जाते। वहां तब विनोबा का भूदान आंदोलन शुरू हुआ था। बदरी चाचा अच्छे फ़ोटोग्राफ़र भी थे। उस दौर में उनके द्वारा खींचे गए चित्र आज भी हमारे मन पर ज्यों के त्यों अंकित हैं—काग़ज़ वाले प्रिंट ज़रूर कुछ पीले-भूरे और धुंधले पड़ गए हैं।

मन्ना कविता लिखते थे, पढ़ने भी लगे थे, शायद रेडियो पर भी। लेकिन हमें घर में कभी इसकी जानकारी मिली हो—ऐसा याद नहीं आता। तब तक घर में रेडियो नहीं आया था। हैदराबाद रेडियो स्टेशन से हर इतवार सुबह बच्चों का एक कार्यक्रम प्रसारित होता था। हम एकाध बार वहां मन्ना के साथ गए थे। ऐसे ही किसी इतवार को नंदी जीजी ने लकड़हारे की कहानी माईक के सामने सुना दी थी। जिस दिन उसे प्रसारित होना था, उससे एक दिन पहले मन्ना एक रेडियो ख़रीद लाए थे। रेडियो सेट मन्ना की कविता के लिए नहीं, जीजी की कहानी सुनाने के लिए घर में आया था—इसे आज रेडियो स्टेशन में ही काम करने वाली नंदिता मिश्र भूली नहीं हैं।

हैदराबाद से मन्ना आकाशवाणी के बंबई केंद्र में आ गए थे। तब मैं तीसरी कक्षा में भर्ती किया गया था। उस स्कूल में हमें दूसरों से, अध्यापकों के व्यवहार से पता चला था कि हमारे पिताजी को घर से बाहर के लोग भी जानते हैं। क्यों जानते हैं? क्योंकि वे कविताएं लिखते हैं। हमारे मन्ना कवि हैं!

कवि कालदर्शी होता है? हमें नहीं मालूम था। कल क्या होगा बच्चों

का, उनकी पढ़ाई-लिखाई कैसी करनी है—बहुत ही बड़े माने गए ऐसे प्रश्न हमारे कवि पिता ने कभी सोचे नहीं होंगे। जब एक शाम मैं और नंदी स्कूल से घर लौटे थे तो मन्ना ने हमें बताया कि अगले दिन हम सब बंबई से बेमेतरा जाएंगे। बड़े भैया के पास। मन्ना के बड़े भैया म.प्र. के दुर्ग ज़िले की एक छोटी सी तहसील बेमेतरा में तब तहसीलदार थे। हम सब बेमेतरा जा पहुंचे। दो-चार दिन बाद पता चला कि मन्ना और अम्मा वापस बंबई लौट रहे हैं और अब हम यहीं बेमेतरा में बड़े भैया के पास रह कर पढ़ेंगे। हैदराबाद में एक बार सीढ़ियों से गिरने पर काफ़ी चोट लगने से मैं ख़ूब रोया था। तब के बाद अब की याद है—बेमेतरा में ख़ूब रोया, उनके साथ वापस बंबई लौटने को। आंखें तो उनकी भी गीली हुई थीं पर हम वहीं रह गए, मन्ना-अम्मा लौट गए। ताऊजी यानी बड़े भैया का प्यार मन्ना से बड़ा ही निकला। यह तो हमें बहुत बाद में पता चला कि बड़े पिताजी के छह में से पांच बेटे बड़े होकर कॉलेज हॉस्टल आदि में चले गए थे और उन्हें अपना घर सूना लगने लगा था, इसलिए उस सूने घर में रौनक लाने के लिए मंझले भाई मन्ना ने हम दोनों को उन्हें सौंप दिया था।

बंबई से मन्ना दिल्ली आकाशवाणी आ गए। तब हम भी एक गर्मी में बेमेतरा से शायद चौथी/पांचवीं की पढ़ाई पूरी कर दिल्ली बुला लिए गए। हैदराबाद, बंबई की यादें धुंधली-सी ही थीं। बेमेतरा छोटा क़स्बा था और बड़े भैया सरकार के बड़े अधिकारी थे, इसलिए बाज़ार आना-जाना, ख़रीददारी, डबलरोटी—ऐसे विचित्र अनुभवों से हम गुजरे नहीं थे। दिल्ली आने पर मन्ना के साथ घूमने-खुद चीज़ें ख़रीदने के अनुभव भी जुड़े। एक साधारण ठीक माने गए स्कूल रामजस में उन्होंने मुझे भर्ती किया। सातवीं-आठवीं-नौंवी में विज्ञान में नंबर थे। इसी बीच उन्हें सरकारी मकान किसी और मोहल्ले में मिल गया। शुभचिंतकों के समझाने पर भी मन्ना

ने मेरा स्कूल फिर बदल दिया—नए मोहल्ले सरोजनी नगर में टेंट में चलने वाले एक छोटे से सरकारी स्कूल में। यह घर के ठीक पीछे था। पैदल दूरी। 'बच्चा नाहक दिल्ली की ठंड/गर्मी में 8–10 मील दूर के स्कूल में बसों में भागता फिरे' यह उन्हें पसंद नहीं था। यहां विज्ञान भी नहीं कला की कक्षा में बैठा। मुझे खुद भी तब पता नहीं था कि विज्ञान मिलने न मिलने से जीवन में क्या खोते हैं—क्या पाते हैं। यहीं नौंवी में हिंदी पढ़ाते समय जब किसी एक सहपाठी ने हमारे हिंदी के शिक्षक को बताया कि मैं भवानीप्रसाद मिश्र का बेटा हूं तो उन्होंने उसे 'झूठ बोलते हो' कह दिया था। उस टेंट वाले स्कूल में ऐसे कवि का बेटा? बाद में उन्होंने मुझसे भी लगभग उसी तेज़ आवाज़ में पिता का नाम पूछा था। फिर हल्की आवाज़ में घर का पता पूछा था। फिर किसी शाम वे घर भी आए अपनी कविताएं भी मन्ना को सुनाईं। मन्ना ने भी कुछ सुनाया था। मन्ना की प्रसिद्धि हमें इन्हीं मापदंडों, प्रसंगों से जानने को मिली थी।

श्री मोहनलाल बाजपेयी यानी लालजी कक्कू मन्ना के पुराने मित्र थे। मन्ना ने उनके नाम एक पूरी पत्रनुमा कविता लिखी थी। बड़ा भव्य व्यक्तित्व। शांति निकेतन में हिंदी पढ़ाते थे। शायद सन् 1957 में वे रोम विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग की स्थापना करने बुलाए गए थे। वहां से जब वे दिल्ली आए एक बार तो एक बहुत ही सुंदर छोटा-सा टेपरिकॉर्डर लाए थे मन्ना के लिए। नाम था जैलेसो। जैलेसो यानी ईर्ष्या। उसमें छोटे स्पूल लगते थे। उन दिनों कैसेट वाले टेप चले नहीं थे। शहर का न सही शायद मोहल्ले का तो यह पहला टेपरिकॉर्डर रहा ही होगा! इसका हमारे मन पर बहुत गहरा असर पड़ा था। विज्ञान के आगे मैंने तो माथा ही टेक दिया था। क्या ग़ज़ब की मशीन थी! हर किसी की आवाज़ क़ैद कर ले, फिर उसे ज्यों का त्यों वापस सुना दें। शायद लालजी कक्कू ने यह यंत्र इसलिए दिया था कि मन्ना इस पर कभी-कभी अपना

काव्यपाठ रिकॉर्ड करेंगे। पर वैसा कभी हो नहीं पाया। एक तो ऐसे यंत्र चलाने में उनकी दिलचस्पी नहीं थी, और फिर अपनी कविता ख़ुद बटन दबा कर रिकॉर्ड करना, उसे ख़ुद सुनाना, दूसरों को सुनना—उन्हें पसंद नहीं था। बाद में हमारे एक बड़े भाई बंबई से वास्तुशास्त्र पढ़कर जब दिल्ली आए तो जैलेसो पर मुकेश, किशोर कुमार और लता के गाने ज़रूर जग गए थे। आज भी हमारे घर में मन्ना की एक भी कविता का पाठ रिकॉर्ड नहीं है। कभी-कभी नितांत अपरिचित परिवार में परिचय होने के बाद सन्नाटा, गीत फ़रोश, घर की याद, सतपुड़ा के घने जंगल आदि कविताओं के पाठों की रिकॉर्डिंग हमें सुनने मिल जाती हैं। ये कविताएं उन्हीं शहरों में मन्ना ने पढ़ी होंगी। वहीं वे रिकॉर्ड कर ली गयीं। हमें ऐसे मौक़ों पर लालजी कक्कू के जैलेसो की याद ज़रूर आ जाती है, पर ईर्ष्या नहीं होती।

कविकर्म जैसे शब्दों से हम घर में कभी टकराए नहीं। मन्ना कब कहां बैठकर कविता लिख लेंगे—यह तय नहीं था। अक्सर अपने बिस्तरे पर, किसी भी कुर्सी पर एक तख़्ती के सहारे उन्होंने साधारण से साधारण चिट्ठों पर, पीठ कोरे (एक तरफ़ छपे) काग़ज़ पर कविताएं लिखीं थीं। उनके मित्र और कुछ रिश्तेदार उन्हें हर वर्ष नए साल पर सुंदर, महंगी डायरी भी भेंट करते थे। पर प्राय: उनके दो-चार पन्ने भर कर वे उन्हें कहीं रख बैठते थे। बाद में उनमें कविताओं के बदले दूध का, सब्ज़ी का हिसाब भी दर्ज हो जाता, कविता छूट जाती। भेंट मिले कविता संग्रह उन्हें ख़ाली नई डायरी से शायद ज़्यादा खींचते थे। हमें थोड़ा अटपटा भी लगता था पर उनकी कई कविताएं दूसरों के कविता संग्रहों के पन्नों की ख़ाली जगह पर मिलती थी। पीठ कोरे पन्नों से मन्ना का मोह इतना था कि कभी बाज़ार से काग़ज़ ख़रीद कर घर में आया हो—इसकी हमें याद नहीं। फिर यह हम सबने सीख लिया था। आज भी हमारे घर में कोरा काग़ज़ नहीं आता।

परिचित-अपरिचित, पाठक, श्रोता, रिश्तेदार--उनकी दुनिया बड़ी थी। इस दुनिया से वे छोटे से पोस्टकार्ड से जुड़े रहते। पत्र आते ही उसका उत्तर दे देते। कार्ड पूरा होते ही उसे डाक के डिब्बे में डल जाना चाहिए। हम आसपास नहीं होते तो वे ख़ुद उसे डालने चल देते। फ़ोन घर में बहुत ही बाद में आया। शायद सन् 1968 में। इन्हीं पोस्टकार्डों पर वे संपादकों को कविताएं तक भेज देते।

बचपन से लेकर बड़े होने तक हमने मन्ना को किसी से भी अंग्रेज़ी में बात करते नहीं देखा, सुना। जबलपुर में शायद किसी अंग्रेज़ प्रिंसिपल वाले तब के प्रसिद्ध कॉलेज राबर्टसन से उन्होंने बी.ए. किया था। फिर आगे पढ़े नहीं। लेकिन अंग्रेज़ी ख़ूब अच्छी थी। घर में अंग्रेज़ी साहित्य, अंग्रेज़ी कविताओं की पुस्तकें भी उनके छोटे से संग्रह में मिल जाती थीं। पर अंग्रेज़ी का उपयोग हमें याद ही नहीं आता। बस एक बार संपूर्ण गांधी वाङ्मय के मुख्य संपादक किसी प्रसंग में घर आए। वे दक्षिण के थे और हिंदी बिल्कुल नहीं आती थी उन्हें। मन्ना उनसे काफ़ी देर तक अंग्रेज़ी में बात कर रहे थे—हमारे लिए यह बिल्कुल नया अनुभव था। दस्तख़त, ख़त-किताबत सब-कुछ बिना किसी नारेबाज़ी के, आंदोलन के-उनका हिंदी में ही था और हम सब पर इसका ख़ूब असर पड़ा। घर में, परिवार में प्रायः बुंदेलखंडी और बाहर हिंदी—हमें भी इसके अलावा कभी कुछ सूझा ही नहीं। हमने कभी कहीं भी हचक कर, उचक कर अंग्रेज़ी नहीं बोली, अंग्रेज़ी नहीं लिखी।

कोई भी पतन, गड्ढा इतना ग़हरा नहीं होता, जिसमें गिरे हुए को स्नेह की उंगली से उठाया न जा सके—एक कविता में कुछ ऐसा ही मन्ना ने लिखा था। उन्हें क्रोध करते, कड़वी बात कहते हमने सुना नहीं। हिंदी साहित्य में मन्ना की कविता छोटी है कि बड़ी है, टिकेगी या पिटेगी, इसमें उन्हें बहुत फंसते हमने देखा नहीं। हां अंतिम वर्षों में कुछ वक्तव्य

वग़ैरह लोग मांगने लगे थे। तब मन्ना इन वक्तव्यों में कहीं-कहीं कुछ कटु भी हुए थे। एक बार मैं चाय देने उनके कमरे में गया था तो सुना वे किसी से कह रहे थे, 'मूर्ति तो समाज में साहित्यकार की ही खड़ी होती है, आलोचक की नहीं!'

हम उनके स्नेह की उंगली पकड़ कर पले-बढ़े थे। इसलिए ऐसे प्रसंग में हमें उन्हीं की सीख से ख़ासी कड़वाहट दिखी थी। पर उन्हें एक दौर में गांधी का कवि तक तो ठीक, बनिए का कवि भी कहा गया तो ऐसे अप्रिय प्रसंग उनके संग जुड़ ही गए एकाध। फिर उनकी एक कविता में उन्होंने लिखा है कि 'दूध किसी का धोबी नहीं है। किसी की भी ज़िंदगी दूध की धोई नहीं है। आदमक़द कोई नहीं है।' कवि के नाते उनका क़द क्या था—यह तो उनके पाठक, आलोचक ही जानें। हम बच्चों के लिए तो वे एक ठीक आदमक़द पिता थे। उनकी स्नेह भरी उंगली हमें आज भी गिरने से बचाती है।

श्रद्धा-भाव की ज़रूरत

बहुत अच्छा लिखने वाले भी जब बोलने खड़े होते हैं तो कमज़ोर बोलते हैं। मैं तो साधारण लिखने वाला हूं। इसलिए मुझसे आप कोई अच्छे भाषण की उम्मीद न करें। मैंने लिखा भी बहुत कम है। जैसा आजकल लिखा जाता है, प्रायः हर हफ़्ते हर महीने, लोगों के नाम देखने को मिलते हैं। मैंने तो 20–25 सालों में अगर 17 छोटी-छोटी या एकाध दो बड़ी किताबें लिख दीं तो कोई बड़ा काम नहीं है। ये तो तराज़ू पर एक-दो किलो के बांट से तुलने लायक़ है। इससे ज़्यादा कुछ होगा नहीं। फिर आज जो प्रसंग है, उसके सिलसिले में भी बहुत संकोच के साथ कहना चाहूंगा कि जिन तीन विशिष्ट व्यक्तियों को ये सम्मान मिला उसमें चौथा नाम मेरा जो आप लोगों ने जोड़ा, ये चौथाई भी नहीं बैठता उनमें से। इसलिए इसको मैं ऐसा मानता हूं कि आयोजकों की, आप सबकी और चयन समिति की बहुत उदारता ही माननी चाहिए कि उन्होंने मेरे थोड़े से लिखे को सामने रखा। इसका कारण मैं समझने की कोशिश कर रहा था। बूंद भर मैंने कुछ लिखा है पर्यावरण पर, जो बिंदु बराबर है वह एक बड़े सिंधु का हिस्सा है। उस सिंधु का दर्शन इस बिंदु में ज़रूर हो सके ऐसी कुछ-न-कुछ कोशिश मैंने की थी। तो शायद आप लोगों के ध्यान में वह समुद्र वह सिंधु रहा इसलिए आपने उसकी एक बूंद को भी इतना महत्व दिया है।

पिछले लंबे दौर से हम लोगों ने देखा है कि हमारे जैसे देश प्राय: अपने समाज को दुत्कारने का काम कर रहे हैं। ये एक सर्वसम्मत विचारधारा बन गई है, अलग-अलग राजनीतिक विचारधाराओं के नाम लेने की ज़रूरत मुझे नहीं दिखती। पर्यावरण का काम जो मैंने 30-35 साल में किया, मुझे लगा कि हम अपने समाज को पिछड़ा, अनपढ़ कहते हैं, उसके लिए साक्षरता की कैसी योजनाएं बनाएं, उसकी चेतना कैसे जगाएं-इसी में चिंतित रहते हैं। आप और हम बहुत सारी सामाजिक संस्थाओं के नामकरण भी देखेंगे तो उसमें ये चेतना वग़ैरह नाम आ ही जाते हैं। जागृति आएगी। बाक़ी सब सो रहे हैं, मैं जगा हूं, इसलिए मैं आपको जगाऊं। आप सबकी कोई चेतना नहीं है। मैं कोई चेतना का केंद्र बनाऊं। इस तरह के बहुत नामकरण जाने-अनजाने में, शायद अनजाने में ही हुए हैं। कोई दोष की तरह न भी देखें उसको, पर ये बहुत हुआ है। कितना बड़ा देश है। मैं तो पूरा घूमा नहीं। हमारे पास कभी ऐसे साधन नहीं रहे। लेकिन, श्रद्धा से अगर देखें तो बहुत बड़ा है। हम चौथी हिंदी से पढ़ते रहे कि कुछ पांच लाख गांव हैं। इस सबको चलाने में हमें संविधान से जो कुछ चीज़ें मिली हैं तो प्रधानमंत्री तो उसमें से एक की ही गिनती में आता है। अभी तक यह सौभाग्य है। मंत्री पहले कम होते थे, अब बहुत ज़्यादा भी होने लगे हैं। गठबंधन की मजबूरी वग़ैरह बताते हैं लोग, अच्छे-अच्छे लोग। तो इन सबकी संख्या भी अगर आप जोड़ लें तो जो शुभ संख्या है वह 101 हो भी जाए तो क्या यह पांच लाख गांवों के देश का संयोजन कर पाएंगे ये लोग? बहुत अच्छे अधिकारियों के भी नाम कभी-कभी हम अख़बारों में सुनते हैं। इक्के-दुक्के नाम होते हैं। वे भी तबादलों में भागते-फिरते हैं यहां-से-वहां। कुछ समाज सेवकों के नाम कभी-कभी आपके सामने आ जाएंगे। कितने होंगे? इसलिए मुझे लगता है कि ये जो सारा ढांचा है वह पांच लाख गांव के इस बड़े देश

को संभालने में बहुत अक्षम है। फिर जैसा मैंने कहा कि पिछले डेढ़ सौ साल से एक प्रवृत्ति चली है कि हम अपने को ही चाबुक मारने का काम करते जा रहे हैं। अपने को नहीं तो अपने लोगों को 'ये पिछड़े हैं, ये जानते नहीं इनको बताना है, इनको नई चीज़ समझानी है, नया संगठन बनाना है वग़ैरह।' इसमें एक और विचारधारा के कारण एक शब्द आया है जो जाने-अनजाने हम सब लोगों ने अपनाया है वह है–'लोक'। किसी भी चीज़ के आगे लोक लगाओ, जन लगाओ सब ठीक हो जाएगा। मैं छोटे-से-छोटा रद्दी-से-रद्दी आंदोलन चलाऊं लेकिन उसके आगे जन लगा कर जन आंदोलन बनाकर आपको डराना चाहूंगा। ऐसे ही लोक शक्ति, लोक क्रांति, लोक चेतना ऐसी लिस्ट बनाएंगे तो आपको सौ-डेढ़-सौ नाम इसमें मिल जाएंगे।

मैंने पिछले तीस साल में अगर जो कुछ किया और उसके कारण आप लोगों ने अपने बीच में आज जो कुछ जगह दी है उदारतापूर्वक तो मुझे लगता है कि मैंने लोक बुद्धि को समझने का प्रयास किया है। अगर पांच लाख गांवों के इस देश को संभालना है तो अपने देश के लोगों से प्यार करना सीखना होगा। हम उसका एक हिस्सा हैं, उस सिंधु की एक बिंदु हैं। ये जब तक हमारे ध्यान में नहीं आएगा, तब तक हम उससे विशिष्ट हैं, हम उससे कुछ ज़्यादा जानते हैं–यह घमंड बना रहेगा और इसमें से कुछ निकलेगा नहीं। इसलिए इस बुद्धि पर भरोसा करने लायक़ चीज़ें मुझे आप सबके आशीर्वाद से देखने का मौक़ा मिला और उसी में से मैंने जो कुछ निकाला है तो मुझे लगता है कि ये जो लोक क्रांति की फुलझड़ी हम लोग जलाते हैं लोक शब्द लगाकर वो कुछ छुट-पुट कर उजेला फेंकती है, हम उससे संतुष्ट हो जाते हैं और उसके बाद जैसे ही फुलझड़ी समाप्त होती है। बहुत अंधेरा छा जाता है। तो ये फुलझड़ियां हम सौ डेढ़ सौ सालों से लोक शक्ति की लेकिन उसमें बुद्धि का भरोसा न रखकर हम जो जलाते रहे हैं, उससे बचने की कोशिश करनी पड़ेगी।

अभी तो आपके सामने जोशी जी ने भाषण में अंत में एक बहुत बड़ी चेतावनी दी कि यह जनतंत्र बचेगा कि नहीं। यह भी कोई तंत्र है जिसके आगे हमने 'जन' लगाया और हमने सोचा सब कुछ ठीक हो गया। इसलिए उनकी इस चेतावनी को बहुत गहराई से समझें। ये उसी 'जन' और 'लोक' शब्द से खिलवाड़ का तरीक़ा बनता चला जाएगा। मैं इसमें एक थोड़ा-सा आपके सामने रखना चाहूंगा कि जिस टैक्नोलॉजी की आज हम लोग ख़ूब वकालत कर रहे हैं, हममें से बहुत सारे लोग भूल गए हैं कि आज का जो हमारा पढ़ा-लिखा समाज है इसकी नींव में हमारे वे अनपढ़ लोग रहे हैं, जिनको हमने दुत्कार कर अलग कर दिया। आज हम जितने लोग भी बैठे हैं हमारे परिवार से कोई एक संतान लड़का-लड़की आई.आई.टी में चला जाए इसका हमारे मन में बहुत बड़ा सपना होता है। उसके लिए किस तरह की परीक्षाएं देनी होती हैं कैसी कोचिंग क्लास वग़ैरह में जाते हैं ये सब आपसे छिपा नहीं है। शिक्षा का वह ढांचा अभद्र दुकानों तक में बदल गया है। लेकिन कभी हमारे सामने, हम पढ़े-लिखे, थोड़े से पढ़- लिख गए लोगों के सामने ये प्रश्न आया ही नहीं होगा कि इस देश का पहला इंजीनियरिंग कॉलेज कहां खुला? कब खुला और किसने खोला या शायद किसके कारण से खुला? ये बात कभी-कभी आज जैसा अवसर आप लोगों ने दिया ऐसा एकाध दो बार या चार बार देश में जो चार-पांच आई.आई.टी हैं, उनमें से एकाध को छोड़कर सबके सामने रखने का मुझे मौक़ा मिला और मुझे आपको बताते हुए दुख होता है कि जिसको फ़ैकल्टी कहते हैं, निदेशक कहते हैं वे भी इन संस्थाओं की तह तक शायद नहीं जा पाए। अपने कामों की व्यस्तता के कारण, कोई और दोष न दें। पहली तकनीकी संस्था हमारे देश में 1847 में दिल्ली, मुंबई, कलकत्ता, चेन्नई जैसे किसी बड़े शहर में नहीं खोली गई थी। 1847 में सरकार भी नहीं थी—हमारे

पास अंग्रेज़ की ईस्ट इंडिया कंपनी थी जो यहां उच्च शिक्षा का काम करने नहीं आई थी, साफ़-साफ़ व्यापार करने या शुद्ध हिन्दी में कहें लूटने के लिए आई थी। इसलिए उसको उच्च शिक्षा का कोई केंद्र खोलने की ज़रूरत ही नहीं थी। लेकिन उसने 1847 में हरिद्वार के पास रुड़की नाम के एक छोटे से गांव में देश का पहला इंजीनियरिंग कालेज खोला था, उस समय शायद रुड़की की आबादी अभी तक मैं ढूंढ़ नहीं पाया हूं 700 या 750 लोगों की रही होगी।

वह पहला इंजीनियरिंग कॉलेज था हमारे देश में और उसके खुलने का एकमात्र कारण था जो मैंने अभी संकेत किया कि जिस लोक बुद्धि को हम लोग भूल चुके हैं, वह उनके सामने मजबूरी में आ गई थी। प्रसंग यह था कि वहां अकाल चल रहा था। लोग मर रहे थे। लोग मरें इससे ईस्ट इंडिया कंपनी के अंग्रेज़ों को कोई अंतर नहीं पड़ने वाला था। लेकिन एक सहृदय अंग्रेज़ अधिकारी ने ईस्ट इंडिया कंपनी को एक डिस्पैच भेजकर कहा कि जो लोग मर रहे हैं उनमें तो आप लोगों को कोई दिलचस्पी नहीं होगी लेकिन यहां अगर आप एक नहर बनाएंगे तो आपको सिंचाई का कर मिलना शुरू हो जाएगा और अकाल से लोग निपट सकेंगे। तो आज जो हम एक बहुत प्रिय विभाग का नाम सुनते हैं—पी.डब्ल्यू.डी. और उसके आगे 'सी' भी लग जाता है, हमारे दिल्ली में सी.पी.डब्ल्यू.डी. तब वह नहीं बना था देश में। कोई इंजीनियर नहीं था, कोई विभाग नहीं था पब्लिक वर्क्स करने वाला। लेकिन इस अंग्रेज़ ने वहां के लोगों को इकट्ठा कर के पूछा था कि तुम लोग पानी का काम बहुत अच्छा जानते हो तो क्या ये नहर बना सकते हो? 200 किलोमीटर की यह नहर आज जिसको हम अनपढ़ कहते हैं उस समाज ने अंग्रेज़ों के सामने कागज़ बिना ड्राईंग बोर्ड के, कोई यंत्र नहीं थे, इसको उन्होंने निकाल के रखा। कागज़ पर नहीं मन में उकेरा और फिर ज़मीन पर बनाया। उसमें उनको एक नदी

पार करानी थी नहर को, जिसमें नदी से ज़्यादा पानी गंगा का निकाल कर ले जाना था। आज हम अंग्रेज़ी में जिसे अक्वाडक कहते हैं वह भी बनाना था। तब मैं फिर आपके सामने एक और बात रख दूं कि बिजली भी उस समय देश में कहीं नहीं थी। अभी भी कई जगह बिजली नहीं है यानी कई शहरों में आती है और जाती है। लेकिन तब तो आई ही नहीं थी देश में बिजली, और सीमेंट जैसी कोई चीज़ नहीं थी। गारा-चूना था जिसको आज हम ट्रेडीशनल बिल्डिंग मैटीरियल कहकर उड़ा देते हैं। उससे यह नहर बनने वाली थी पूरी-की-पूरी और इस नहर को एक नदी भी पार करनी थी, वो अक्वाडक भी उन लोगों ने डिज़ाइन की। वह नहर चालू हुई। 200 साल आज हो रहे हैं उसको, उससे भी ज़्यादा, वह बराबर चलती रही है और उसमें कोई ख़राबी नहीं आई। उस नहर के कारीगरों को देखकर इस अंग्रेज़ सहृदय अधिकारी ने फिर से इस ईस्ट इंडिया कंपनी को कहा कि एक छोटा-सा इंजीनियरिंग कॉलेज ऐसे बच्चों की पढ़ाई-लिखाई को और चमकाने के लिए क्यों नहीं बनाते। यहां पर तब तक भारत में कहीं कोई इंजीरियरिंग कॉलेज नहीं खुला था। इन अनपढ़ लोगों की देन थी उनका ये चमत्कार था कि अंग्रेज़ अधिकारी जो लूटने आया था उसको एक इंजीनियरिंग कॉलेज खोल कर देना पड़ा। और पुराना इतिहास अगर देखें तो पता चलता है तब तक भारत के अलावा एशिया में कोई ऐसा कॉलेज नहीं था। जिन देशों ने कोरिया ने, जापान ने इतनी तरक़्क़ी की है, वहां भी ऐसा कालेज नहीं था। तब हमारे यहां पहली बार यह कॉलेज खुला था, अनपढ़ लोगों की देन थी, उसके अलावा ऐसा भी कहा जाता है कि तब यूरोप में भी ऐसा कोई कॉलेज नहीं था। लेकिन सौभाग्य से ही कहना चाहिए कि इस कॉलेज का तो दुर्भाग्य रहा लेकिन देश के सौभाग्य के लिए वहां पर 10 साल बाद गदर हो गया। 1847 के बाद 57। जो उदार 2-4 इने-गिने अधिकारी इस तरह

के प्रयोगों को बढ़ावा दे रहे थे कि हमारे यहां के जो लोग अनपढ़ माने जाते हैं वे बाक़ायदा इंजीनियर हैं, सिविल इंजीनियर हैं और उससे ये देश चलना चाहिए, वह धारा एकदम कट गई। उन सबको ब्लेक लिस्ट किया गया और साफ़-साफ़ यह कहा गया कि जो लोग हमारे एजेंट हैं उन्हीं को ये सब पढ़ाई पढ़ानी चाहिए। उनको और कोई चीज़ आती हो तो आए हमारे लिए वे अनपढ़ हैं। इस तरह से वह रस्सी तब कटी लेकिन फिर रस्सी हम कभी जोड़ नहीं पाए।

मैंने जो कुछ 20 साल में काम किया तो मुझे ऐसा लगा कि जब अंग्रेज़ आए तो हमारे देश में क़रीब 20 लाख से 25 लाख तालाब थे जिनको अंग्रेज़ी में वॉटर बॉडीज़ वग़ैरह कहा जाता है। जैसे अभी उन्होंने बताया कि हर चीज़ का नंबर चाहिए। हमारे यहां वॉटर बॉडीज़ शब्द नहीं चलता था। हर तालाब का नामकरण होता था क्योंकि वह जीवन देता है, इसलिए वह ख़ुद जीवंत है। कभी उसको नापकर नंबर नहीं दिया। उस पर कहावतें क़िस्से कहानियां। आप तो भोपाल में बैठे हैं। भोपाल के तालाब को लेकर जो कहावतें बनीं उसमें गर्व के बदले घमंड तक आ गया। ताल में भोपाल ताल बाक़ी सब तलैया और उसके बाद लाइन कहना ज़रूरी नहीं है। तो ये इतनी ऊपर तक चीज़ें चली जाएं। जैसलमेर में एक बहुत सुंदर तालाब है 800 साल पहले बनाया था। ये रेगिस्तानी इलाक़ा है, जहां आज का साइंस कहता हैं कि सबसे कम पानी गिरता हैं। उसको सेंटीमीटर में नापते हैं और 16 सेंटीमीटर बताते हैं, वह जैसलमेर है। जहां सबसे ज़्यादा पानी गिरता है चेरापूंजी वह भी चौथी हिंदी में हम लोग पढ़ते हैं। वहां भी पानी का काम, यह समाज जानता था, और जहां सबसे कम गिरता है वहां भी। दोनों में से किसी भी समाज के हिस्से ने ये शिकायतें नहीं की कि तुमने हमको बहुत कम पानी दिया या तुमने हमको बहुत पानी दिया है। जो दिया है उसके इर्द-गिर्द हम

पूरा अपना काम रंग-बिरंगा चला कर दिखाएंगे। तो ये जो एक आदत थी लोक बुद्धि की वह हम धीरे-धीरे भूलते चले गए। आपने परिचय में सुना कि हमारी एक किताब का नाम है–'राजस्थान की रजत बूंदें' वह शब्द हमें आज जिसको हम अनपढ़ कहेंगे उससे मिला। कितना सेंटीमीटर पानी गिरता है, कितने इंच गिरता है ये पूछते हैं तो जवाब मिलता है वहां पर कि रजत बूंदें गिरती हैं। चांदी की बूंदे उनमें से जितनी रोक लो आपके काम आएंगी। एक भी कण बर्बाद नहीं जाने देना। विज्ञान की दृष्टि उसको इंच और सेंटीमीटर में नापेगी और हमारा समाज उसको रजत कणों की तरह देखता था। कोई शिकायत मन में नहीं कि तुमने प्रभु क्या थोड़ा-सा पानी गिराया। असंख्य, करोड़ों रजत बूंदें गिराईं उसमें से हम जितनी रोक सकें उतनी रोकें।

आप सभी लोग म.प्र. के शहरों में एक मोहल्ला और गली को जानते होंगे, सर्राफ़ा। वहां पर सवेरे जैसी झाड़ू लगती है वैसी झाड़ू शायद राष्ट्रपति भवन में भी नहीं लगती होगी। सर्राफ़े को साफ़ कौन करता है? म्युनिसीपेल्टी का सफ़ाई कर्मचारी साफ़ नहीं करता। समाज के सबसे ग़रीब माने गए लोग तसला लेकर आते हैं, झाड़ू लेकर आते हैं। एक-एक कण साफ़ करते हैं क्योंकि उसमें छोटा-सा चांदी और सोने का टुकड़ा मिल जाएगा उनको जो सुनार ने फूंक के इधर-उधर बिखेर दिया होगा। तो पानी को इस ढंग से देखने वाला समाज कि एक कण भी कहीं जाने न दें। हम सब कुछ करके देख लेंगे। ये सब चीज़ें हैं। मुझे काम करने का मौक़ा मिला। मैं आपका समय ज़्यादा नहीं लूंगा बस इतना कहूंगा कि इसको शोध की तरह मैंने नहीं देखा। इसको श्रद्धा से देखा। शोध में तो पांच साल का प्रोजेक्ट होगा। मुझे पैसा मिलेगा मंत्रालय से तो मैं करूंगा, नहीं मिलेगा तो मैं नहीं करूंगा। लेकिन अगर हम श्रद्धा रखेंगे तो हम उस काम को सब तरह की रुकावटों के बाद भी करके आगे

जाएंगे। इसके लिए विशेषज्ञ बनना ज़रूरी नहीं। समाज का मुंशी बनना ज़रूरी है, क्लर्क। आज ये शब्द बदनाम हो गए हैं। लेकिन हमें अच्छे क्लर्क चाहिए। हम अच्छे क्लर्क बन सकें उस समाज की ठीक तस्वीर आप सबके सामने रख सकें तो ये काम आगे चलेगा। आप सबने अपनी उदारता से आज एक क्लर्क को अपने बीच में बैठाया इसके लिए मैं हृदय से आप सबको धन्यवाद देता हूं। आपका आभारी हूं।

धन्यवाद।